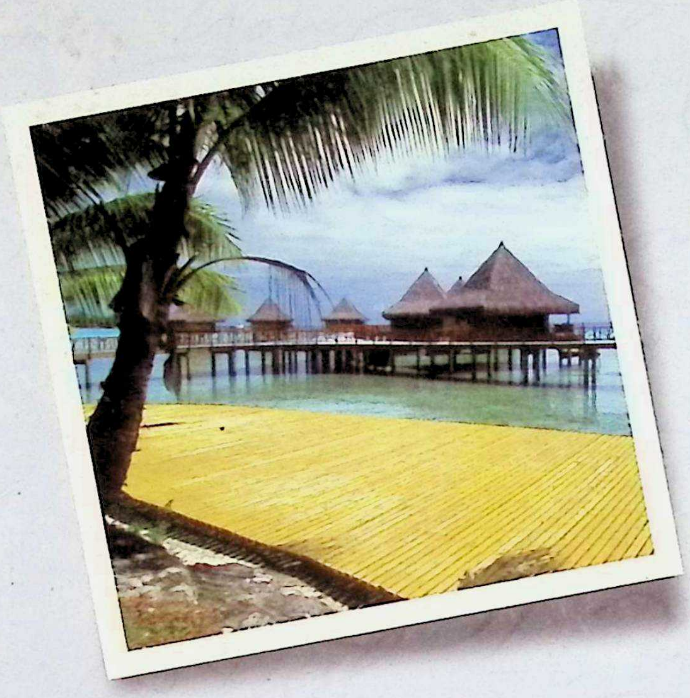

This world

is full of stress

and tension.

A small break is like

a breath of fresh air.

ITH WARM WISHES FOR A BO

विजिज्ञासा

[मूल बङ्गला से अनूदित]

लेखक

महामहोपाध्याय

डॉ० गोपीनाथ कविराज

अनुवादिका

डॉ० कुमारी कौशल्या वल्ली

भारतीय विद्या प्रकाशन

दिल्ली वाराणसी

(भारत)

प्रकाशक :

१. भारतीय विद्या प्रकाशन (प्रधान ऑफिस)
१, यू० बी०, जवाहरनगर, बँग्लो रोड,
दिल्ली-११०००७

२. पोस्ट बॉक्स नं० १०८, कचौड़ी गली,
वाराणसी-२२१००१

प्रथम संस्करण : १९८२

मूल्य : ५.०० ([illegible])

मुद्रक :
रघु कंपोजिंग एजेंसी द्वारा आर० के० भारद्वाज प्रिंटर्स,
5/6 शिवाजी पार्क, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

भूमिका

प्रस्तुत कृति बङ्गला में प्रकाशित 'विजिज्ञासा' का हिन्दी रूपान्तर है। जैसा कि डॉ० गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय द्वारा बंगला में लिखित और मेरे द्वारा हिन्दी में अनूदित निवेदन से स्पष्ट है कि विभिन्न समयों पर विभिन्न जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर में गुरुवर्य महामहिम डॉ० गोपीनाथ जी कविराज ने जो आलोकित किया था उसी को यहाँ पाठकों के समक्ष शब्द रूप में रखने का प्रयास किया गया है।

१९७५ की बात है गुरु प्रवर ने बंगला से हिन्दी में अनूदित करने की आज्ञा दी थी। कहा था—"प्रकाशित करने से पहले मुझे दिखाना।" खेद की बात है कि जून, १९७६ में वे इस संसार से प्रस्थान कर गए। हिन्दी अनुवाद उनके दृष्टिपथ से नहीं गुजरा। परन्तु, मुझे विश्वास है कि स्थूल रूप से यदि वे मार्ग-दर्शन नहीं कर पाये, सूक्ष्म दृष्टि से वे पग-पग पर पथ-प्रदर्शक रहे हैं।

अनुवाद में जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है, सब उनका है। जो कुछ अन्यथा है उसका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। प्रकाशित पुस्तक के पठनान्तर की पाठकों की प्रतिक्रिया यदि मुझे जानने को उपलब्ध हो तो हार्दिक आभार प्रकट करूँगी।

भारतीय विद्या प्रकाशन ने यह पुस्तक प्रकाशित करना सहर्ष स्वीकारा, इसके लिए श्री किशोरचन्द जैन धन्यवाद के पात्र हैं।

बङ्गला अनुवाद को शब्दशः श्री अमल कुमार वसु (निर्देशक, गान्धी पुस्तक घर, १-राजघाट, नई दिल्ली) तथा डॉ० चन्द्रकान्त मेहता अवकाश प्राप्त रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय के दृष्टिप्रथ से गुजरा है, इसके लिए उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ।

विनीता :

मार्च, १९८१ डॉ० कौशल्या वल्ली

निवेदन

हम इससे पहले पूजनीय आचार्यदेव की प्रणाली के कुछ अंश एवं उनके हृदय में स्वतः उद्भूत तत्त्वज्ञान की कुछ विवरणी जो उन्होंने विभिन्न समय में लिपिबद्ध करके रखी थी, 'स्वसंवेदन' नाम दे कर प्रकाशित किए हैं। दोनों ग्रन्थ ही नाना आध्यात्मिक तत्त्व के ऊपर उनकी अलोक सामान्य प्रतिभा और अनन्य साधारण साधनालब्ध प्रज्ञा के आलोक में बिखरित हुए बहुत लोगों के मन के पुञ्जीभूत संशय और साधनाविषयक नाना अनिश्चय दूर करने में साहाय्य किए हैं। इसीलिए अनेक 'पत्रावली' के द्वितीय खण्ड प्रकाश के विषय में आग्रहपूर्वक जिज्ञासा किए हैं, क्योंकि उसमें विशेष करके नाना जिज्ञासुओं के तत्त्व और साधन के सम्बन्ध में विविध प्रश्नों के उत्तर पत्राकार में आचार्य देव लिपिबद्ध किए थे। नाना कारणों से पत्रावली का द्वितीय खण्ड प्रकाशित होना जब तक सम्भव नहीं होता, उसी चाह को पूर्ण करने की दिशा में दृष्टि रख के इस बार इस 'विजिज्ञासा' नामक ग्रन्थ को प्रकाशित करने में हम उद्योगी हुए हैं।

प्राचीन काल से भारतवर्ष में जिज्ञासा का उद्भव न होने पर किसी को भी वृथा ज्ञान-दान की पद्धति एक प्रकार निषिद्ध थी। जो तत्त्व-ज्ञान लाभ की आशा में संसार का परित्याग करके सन्यास ग्रहण करते हैं, उनमें भी सबसे पहले यह 'विविदिषा' अथवा वेदना की अर्थात् ज्ञान की इच्छा के ऊपर ही जोर देना होता था। पूजनीय आचार्य देव भी इसी लिए उनके सुदीर्घ जीवन में निरन्तर नाना जिज्ञासु उनके पद प्रान्त में उपनीत हुए आकुल भाव से जो सब प्रश्न उठाये थे, अनलस भाव से केवल उनका ही यथासाध्य उपदेश देने में कृतार्थ किए हैं। इसे छोड़कर, वे किसी दिन किसी सभा-समिति में जाकर वृथा वागाडम्बर द्वारा अपना पाण्डित्य प्रकाश करने में उद्योगी नहीं होते, क्योंकि उनका विश्वास है कि जहाँ जिज्ञासा और तत्त्व-वेत्ता में एक योगसूत्र नहीं वहाँ किसी को भी कुछ देने का सुयोग ही उपस्थित नहीं होता। वहाँ बहुजनसमाकीर्ण सभा में प्रयुक्त शब्द-राशि शून्य में ही मिल जाती है, क्योंकि किसी को भी लक्ष्य करके कुछ देने के लिए वहाँ बोलना नहीं होता एवं लेने के लिए भी उन्मुख हुआ वहाँ कोई नहीं रहता। यदि बोला जाता है तो सभा में स्थित सभी वहाँ ज्ञान प्राप्ति के लिए इकट्ठे होते

हैं, वैसा होने पर भी ध्यान रखना होगा कि इस प्रकार समष्टिगत भाव में कभी भी तत्त्व-ज्ञान संचार नहीं किया जाता। वह केवल व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। पूजनीय आचार्य देव को उपदेश दान काल में अनेक समय बोलते हुए सुना है तव एक वैद्युतिक प्रवाह के बराबर ज्ञान का ज्योतिप्रवाह (Current) निरन्तर बह चलता है, उसमें बाधा पड़ने पर विशेष हानि की सम्भावना है। इस प्रसङ्ग में ही प्राचीन काल में पाठ ग्रहण के समय जो सब नियम प्रचलित थे एवं जो हमें हास्यकर प्रतीत होते हैं, उनके विषय में भी वे आलोकपात किए हैं। प्राचीन काल में गुरु और शिष्य के मध्य में किसी के चले जाने पर अथवा आकाश में मेघ गर्जन अथवा विद्युत्पात होने पर पाठ बन्द होता था। इसका वास्तविक कारण प्रवाह में बाधा पड़ना एवं उसे पुनः सक्रिय करना अथवा restore करना अनेक श्रम-साध्य व्यापार हैं। जो भी हो—आर्ष ज्ञान की यह सब महिमा अर्थात् उसी सब ज्ञान संचार की धारा भी अब लुप्तप्राय है। पूजनीय आचार्य देव के बराबर दो एक विरले महाज्ञानी अब भी उसी धारा को सञ्जीवित रखे हैं।

जिज्ञासा ले के उनके पास जब जो गए हैं, कभी भी विमुख हो के लौट के नहीं आये। तभी अनेक ही वे सब अमूल्य उपदेश मन में कुछ धारणा करके रखने पर भी बाहर से ग्रहण करने में सचेष्ट नहीं होते। हमारा विशेष सौभाग्य है कि आचार्य देव के ही जन अत्यन्त अनुगत जिज्ञासु भक्त श्री हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती एवं श्री जगदीश्वर पाल १९६७ से १९७० में उनके विभिन्न जिज्ञासा के उत्तर में प्रदत्त आचार्य देव के अमूल्य ज्ञानोपदेश समूह लिपिबद्ध करके रखे हैं। उनकी सुरक्षित मणिमञ्जूषा से लिए हुए इस तत्त्वोपदेश समूह का एक सङ्कलन 'विजिज्ञासा' नाम देकर अब प्रकाश करना हुआ। श्री वारीन्द्रनाथ चौधरी का एक जिज्ञासा का उत्तर भी इस में सन्निविष्ट हुआ है। इन सब के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

प्राचीन काल के उपनिषद् के ऋषियों ने कहा है—"तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म।" उसको ही जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। उस परम तत्त्व को अवलम्बन करके यहाँ भी जिज्ञासा है। यहाँ जिज्ञासा अत्यन्त व्यक्तिगत होने पर भी वह सार्वभौम है। साधन-पथ के पथिक मात्र ही जानना चाहते है कि भ्रूमध्य में ज्योति-चिन्ता का प्रयोजन क्या है, महापुरुष की कृपा से ही क्या सब होता है, कि अपनी साधना की भी अपेक्षा है, दीक्षा से जो मन्त्र प्राप्त होता है, उसका स्वरूप क्या है? बीजमन्त्र जप और नाम जप में पार्थक्य क्या है, गायत्री मन्त्र का अर्थ अथवा तात्पर्य क्या है इत्यादि? उसी प्रकार तत्त्व जिज्ञासु मात्र ही समझना चाहते हैं कि माया और अविद्या में पार्थक्य क्या है, पूर्ण सत्य का स्वरूप क्या है, पञ्चदशी, षोड़शी, सप्तदशी बोलने से क्या समझा जाता है इत्यादि। इस

प्रकार की जिज्ञासा ही यहाँ आचार्य देव के समीप उपस्थित हुई है। उसके उत्तर में वे उस जिज्ञासा का संशय निराकरण करने के लिए अपने साधनलब्ध प्रज्ञा-ज्योति का जितना आलोक बिखेर दिए हैं, वह सब प्रसाद रूप में सब जिज्ञासुमात्र का अज्ञान का अन्धकार दूर करने के काम में उपयोगी है, इस भाव से ही हम यह सब प्रकाश करने में साहसी हुए हैं। साहसी हुए हैं बोलने का यही तात्पर्य है कि इसमें इस प्रकार अनेक गुह्य विषय आलोचित हुए हैं, उसे कुमारी तत्त्व, काम-कला तत्त्व, प्रासाद विज्ञान इत्यादि, जो सबके समीप् प्रकाशनीय नहीं हैं एवं आचार्य देव भी अनेक समय यह छिपाने अथवा प्रकाश करने के लिए निषेध भी किए हैं। यह सब प्रकाश करके हम उनके सामने अपराधी हुए किन्तु इस सब गहन तत्त्व के सम्बन्ध में अज्ञ जनसाधारण के मन में जो नाना भ्रान्त ओर विकृत धारणा घर किए हुए हैं, वह एकमात्र उनके इस सब उपलब्धिमूलक व्याख्या के द्वारा ही निरसन होना सम्भव है, सोचकर ही प्रकाश करना हुआ। तन्त्र का यह सब तत्त्व कितना विशाल और गम्भीर है, उसका कुछ आभास यहाँ मिलेगा। तब भी यह सब रहस्य एकान्त भाव से ही गुरु मुख से ही समझने योग्य हैं।

वर्धमान गुरु पूर्णिमा,
१३८१ बङ्गाब्द

—श्री गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय

१

पञ्चदशी, षोड़शी और सप्तदशी तत्त्व का स्वरूप क्या है ?

तुमने पञ्चदशी, षोड़शी एवं सप्तदशी तत्त्व के सम्बन्ध में पूछा है। मैं संक्षेप में इसे समझा दूंगा। यह अत्यन्त गम्भीर रहस्य है, आशा करता हूँ, क्रमश: मनन करते-करते गुरु कृपा से यह समझ में आएगा। यद्यपि यह तत्त्व बुद्धि से अगम्य है, किन्तु बोध से अगम्य नहीं है। तुम बुद्धि का अतिक्रमण कर बोधि पर आरूढ़ होकर इसको समझने की चेष्टा करोगे, तो आशा करता हूँ कुछ बुद्धिगम्य होगा। यहाँ मैं किसी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार न करके बोधगम्य होने के लिए इस निगूढ़ तत्त्व की आलोचना करूँगा।

याद रखो हम काल जगत् में हैं। यह परिणाम का क्षेत्र है। इस काल जगत् से ही इसे समझने की चेष्टा करनी होगी। यह काल जगत् आवर्तनशील है। यहाँ पर जो शक्तियां काम करती रहती हैं वे भी निरन्तर आवर्तित होती रहती हैं। इस आवर्तन के दो पहलू हैं। एक आकुञ्चन और दूसरा प्रसारण। एक सम्मुख गति है, दूसरी पश्चात् गति। एक श्वास की क्रिया है दूसरी प्रश्वास की। जगत् के सारे द्वन्द्व इन्हीं दोनों क्रियाओं के अन्तर्गत हैं। जैसे श्वास प्रश्वास की क्रिया—श्वास लेना भी होता है किन्तु लेकर भी शान्ति नहीं, उसे फिर छोड़ना पड़ता है। और फिर छोड़कर ही नहीं रहा जाता, पुन: लेना होता है। सांस का त्याग और ग्रहण निरन्तर चलता रहता है। इसी का नाम जीवन है। चक्षु का उन्मीलन फिर निमीलन, फिर उन्मीलन फिर निमीलन—यह भी ऐसा ही है। इससे प्रगति होती है, यह निश्चित है, लेकिन यह काल की प्रगति है। इस प्रगति का अन्त नहीं है। किन्तु इसे सोपान परम्परा क्रम से व्यवहार कर सकने से ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है। पद का विश्राम और उसका उठाना—बार-बार यह करते-करते जब सोपान अतिक्रम किया जाता है तो एक स्थिरता प्राप्त होती है। श्वास प्रश्वास के व्यापार को भी ठीक ऐसा ही जानना होगा। गुरु द्वारा दिए हुए कौशल से इस प्राकृतिक कालगत आवर्तन में ही अप्राकृत स्थितिबिन्दु प्राप्त हो जाता है। तब जड़ से चैतन्य में प्रकाश होता है। तब काल से कालातीत अमृतसत्ता में स्थिति होती है। इस नित्य स्थिति का नाम षोड़शी है। पञ्चदशी से ही षोड़शी में प्रवेश होता है।

षोड़शी आत्मस्वरूप है—आत्मा की नित्यकला। जब षोड़शी की प्राप्ति होती है तब काल का अतिक्रम होता है, यह सत्य है। उस स्थिति में जड़त्व से शक्तित्व में परिणत होता है। शक्तित्व में परिणत होने से समझ में आता है कि शक्ति के साथ शिव हैं। इस शिवशक्ति के युगल का कामेश्वर—कामेश्वरी नाम से वर्णन किया जा सकता है। ये त्रिकोण के मध्यबिन्दु में आसीन हैं। इन्हें घेरकर नित्यामण्डल निरन्तर परिक्रमा करता है। यह नित्या पञ्चदश कालशक्तिरूपी नित्या है, एवं जो षोड़श है वह नित्या होते हुए भी एक ओर नित्या तथा दूसरी ओर साक्षात् जगदम्बा है। इस दृष्टि से षोड़शी को नित्य कहा जाता है।

काल का धर्म परिणाम एवं आवर्तन और विवर्तन है। किन्तु आवर्तन के पथ में अमृतकला को पूर्णरूप से पाने से आवर्तन और विवर्तन नहीं रहता। वैष्णवों ने उनकी कुञ्जलीला की प्रक्रिया में इस नित्यमण्डल की परिक्रमा का ही आश्रय लिया है। वैष्णवीय परिभाषा में यही कुञ्जलीला का तात्पर्य है। निकुञ्जलीला इससे पृथक् है। अतएव षोड़शी प्राप्त होना या कामेश्वर-कामेश्वरी रूप युगल का पाना एक ही बात है। इसे काल के स्वरूप से अमृतराज्य में प्रवेश करना कह सकते हैं। मैं सांकेतिक परिभाषा में कह सकता हूँ कि यही है बहु से दो में रूपांतरित होना। दो कहने से दो पृथक् सत्ता नहीं समझो—यह युगल सत्ता है। इसे युगल कहते हैं, युग्म कहते हैं, यामल कहते हैं, युगनद्ध कहते हैं। यह सब एक ही अर्थ के द्योतक हैं। विभिन्न दिशा से देखने पर यही अर्धनारीश्वर की स्थिति है। इस स्थिति में कामेश्वर-कामेश्वरी एक आसन पर अर्थात् बिन्दु में युगलरूप में उपविष्ट हैं। युगल प्राप्ति की यह उपासना ही षोड़शी की उपासना है। यह कालातीत सत्ता को प्राप्त करता है, किन्तु यह अद्वैतसत्ता नहीं है। यह बहु नहीं दो हैं – यह सत्य है, किन्तु इसीलिए यह पृथक्-पृथक् दो सत्ता नहीं—एक सत्ता के दो पहलू हैं। इन दोनों पहलुओं में से कोई दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकता। बहु से इन दो में समागम अथवा प्रवेश बड़े भाग्य से हो सकता है। इस षोड़शी से और भी अन्तरङ्ग गति के पथ पर अग्रसर नहीं हो पाने से युगल से अद्वैत में प्रवेश नहीं हो सकता। षोड़शी से सप्तदशी अवस्था में पहुँचना अत्यन्त रहस्यमय है। यह रहस्य जगत् में प्रकाश करने के योग्य नहीं, किन्तु प्रतीक का सहारा लेकर कुछ बातें इस ढंग से बताता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि में आ सके। बहु से दो में एवं दो से युगल में प्रवेश की बात कही गई है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी होगी कि बहुत से तात्पर्य है अनन्त, किन्तु रहस्य मार्ग में तात्पर्य होगा तीन, परिणामतः तीन कहने से अनन्त समझना होगा। तीन के पश्चात् भाग में दो हैं। इसलिए दो कहने पर भी दो मत समझना। परस्पर संयुक्त दो समझना—जिसका नामान्तर है युगल। अब हम दो से अर्थात् युगल से एक के पथ को पहचानने की चेष्टा करेंगे। यह एक भी केवल एक नहीं, एक में दो एवं उसमें अनन्त है।

अब इस दो अर्थात् युगल से एक में पहुँचने की अर्थात् षोड़शी से सप्तदशी में उठने के रहस्य मार्ग की बात बताता हूँ। षोड़शी कामेश्वर एवं कामेश्वरी रूप में युगल है, किन्तु जब तक इस रहस्य मार्ग में प्रवेश नहीं होता है, तब तक इस युगल से अद्वैतसत्ता में प्रवेश नहीं किया जा सकता। यह अद्वैतसत्ता भी बड़ी विचित्र है। युगल में जिस प्रकार दो पृथक् नहीं है। यह अद्वैत पद सब प्रकार से भेदवर्जित परम अद्वयसत्ता है। भेद का तरंगभंग भी यहां नहीं, किन्तु इसी में समग्रकाल और समग्र भेदप्रपञ्चमय विचित्र विश्व अनुस्यूत रहा है।

इस प्रक्रिया का नाम प्रासाद प्रक्रिया है। स्मरण रहे, प्रासाद मन्त्र अत्यन्त गुह्य है। कोई-कोई इसे दो भाग में विभाजित करते हैं, कोई-कोई तीन अथवा चार में। तात्पर्य एक ही है। एक प्रासाद, एक महाप्रासाद एक पराप्रासाद एवं चौथा प्रासादपरा। ये चार अवस्थायें पूर्ण होने से प्रासाद की क्रिया समाप्त होती है। इस प्रासाद क्रिया का रहस्य पराप्रासाद में निहित है। इसका प्रकृत तात्पर्य फिर बताऊँगा।

२

कुमारी तत्त्व का रहस्य क्या है ?

तुम जानना चाहते हो कि कुमारी तत्त्व का वास्तविक रहस्य क्या है? यहाँ उस विषय में कुछ चर्चा की जा रही है।

महाशक्ति और कालशक्ति जगत् में कार्य करते हैं। कालशक्ति से सभी वस्तुओं का परिणाम संघटित है, क्योंकि काल ही सब वस्तु का परिणाम साधक अथवा पाचक है। अनादि काल से काल से रक्षा पाने के लिए सिद्ध महापुरुषगण किसी न किसी प्रकार महाशक्ति के आश्रय में जाते थे। कालशक्ति आवर्तनशील है। जगत् के सब पदार्थ कालशक्ति के अधीन रहकर निरन्तर आवर्तन करते हैं। वह जगत् में सब वस्तुओं को परिवर्तित करती है, क्योंकि परिवर्तन करना ही इसका स्वभाव है। उपासना मार्ग में शक्ति की उपासना इसी काल को जय करने के लिए होती है।

हम शक्ति उपासना की दिशा में लक्ष्य करने से देख पाते हैं कि काल को विजय करने के लिए शाक्त उपासना प्रचलित रही है। इस प्रसंग में पञ्चदशी, षोड़शी एवं सप्तदशी—महाशक्ति के यह तीन स्वरूप यहाँ आलोच्य हैं, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। पञ्चदशी पञ्चदशी कला के समष्टिरूप में कल्पित हुई है। यही पञ्चदशी बिन्दुरूप में कल्पित हो के षोड़शी स्वरूप में अभिव्यक्त हुई है। पञ्चदशी

आवर्तनशील है, कालचक्र में यह निरन्तर आवर्तित होती रहती है। यह आवर्तन अनुलोम और विलोम रूप से दो प्रकार का है। एक आवर्तन में कला का विकास होते-होते पूर्ण कला का आविर्भाव होता है। यह शुक्ल पक्ष रूप में परिगणित है। यह काल का ही आवर्तन है। इस आवर्तन में केन्द्र लाभ नहीं होता है। इसके बाद पूर्ण कला से एक दिन पञ्चदश कला का ही ह्रास होता है। काल के राज्य में यह दो प्रकार का आवर्तन प्रसिद्ध है। किन्तु स्मरण रखना है कि यह दोनों आवर्तन ठीक-ठीक प्रकार पूर्ण कर सकने पर बिन्दु अथवा केन्द्रशक्ति का साक्षात्कार होता है। तब समझ में आता है कि केन्द्रशक्ति में बिन्दुरूप में रक्षा करके काल का चक्र निरन्तर आवर्तित होता है। आवर्तन पूर्ण होने पर चक्र का मध्यबिन्दु आत्मप्रकाश करता है। इसी का नाम षोड़शी है। पहले जो बिन्दु की बात बोली गई थी वह आवर्तनशील कालचक्र का बिन्दु है। निरन्तर यह दाएँ और बाएँ आवर्तित होता रहता है। यह आवर्तन वास्तविक रूप में एक प्रकार से अनादि और अनन्त है। इसका ही नाम कालचक्र का आवर्तन है। किन्तु वास्तविक रूप में इस कालचक्र के आवर्तन का एक मध्यबिन्दु है—उसका आवर्तन नहीं होता एवं वही स्थिर बिन्दु है। उस स्थिर बिन्दु को मध्य में रख के कालशक्ति एक बार दक्षिणावर्त में और एक बार वामावर्त में परिभ्रमण करती है। साधक एवं योगी उपासना काल में बाएँ और दक्षिणावर्त में आवर्तन सम्पन्न करते रहते हैं। यह दोनों आवर्तन सम्पूर्ण होने पर मध्यबिन्दु देखा जाता है। वही कालचक्र की नाभि है। मध्यबिन्दु षोड़शी रूप में आत्मप्रकाश करता रहता है। आवर्तनशील बिन्दु पञ्चदशी नाम से प्रसिद्ध है। पञ्चदशी काल के अधीन है। वही कालशक्ति है किन्तु षोड़शी काल से अतीत है एवं वह अमृतस्वरूप है। काल के साथ अमृत का निरन्तर संघर्ष चल रहा है। काल अग्निस्वरूप है एवं अमृत सोमस्वरूप है। काल का खेल पञ्चदश कला को लेकर होता है एवं यह सभी कला कभी प्रस्फुटित रूप में प्रकाश पाती है, कभी नहीं पाती है।

आवर्तन के लिए दो बिन्दु हैं एवं उनके संयोजक रज्जु की आवश्यकता है। इस रज्जु के एक छोर में आवर्तनशील बिन्दु परिभ्रमण करता है और उसका दूसरा छोर कूटस्थ रूप में स्थिर रहता है। इन दोनों बिन्दुओं को लेकर चक्र बनता है। जो बिन्दु अनुलोम और विलोम में आवर्तनशील है वही कालबिन्दु है। जीव-मात्र इस बिन्दु को आश्रय बना के निरन्तर भ्रमण करता रहता है, लेकिन जिसका परिभ्रमण करता है, वह स्थिर एवं कूटस्थ है। उस पर काल का कोई प्रभाव नहीं—वही अमृतबिन्दु है। वृत्त का मध्यबिन्दु आत्मस्वरूप है। यह निरन्तर स्थिर और प्रकाशमान है, इसको स्मरण रखना होगा। प्रत्येक जीव में इन्हीं दो बिन्दुओं का कार्य होता रहता है अर्थात् एक बिन्दु को स्थिर रूप में मध्य में रख के दूसरा बिन्दु उसके दाएँ और बाएँ परिक्रमा करता है। दिन और रात्रि का आविर्भाव,

शुक्ल और कृष्णपक्ष का आविर्भाव एवं उत्तरायण दक्षिणायन का आविर्भाव, अर्थात् अहोरात्र चक्र, मासचक्र और संवत्सर चक्र इसी प्रकार भ्रमण करते हैं। यह परिभ्रमण करना ही काल का खेल है। जिसकी मध्यबिन्दु के रूप में केन्द्र में रक्षा की जाती है, वह काल से अतीत है। मनुष्य के देह में इस प्रकार दो बिन्दु कार्य करते रहते हैं—एक आवर्तनशील है और दूसरा आवर्तनशून्य। एक देह है और दूसरा आत्मा, एक प्रकृति और दूसरा पुरुष।

कालराज्य में पूर्णता और शून्यता भी है, किंतु दोनों ही अपूर्ण हैं। पूर्णिमा को पञ्चदश कलापूर्ण होती है, यह कह के उसे पूर्ण कहा जाता है, किन्तु वह ठीक पूर्णता नहीं। यदि वैसी होती तो सदा वह पूर्ण रहती, कृष्णपक्ष का उदय नहीं होता। उसी प्रकार कृष्णपक्ष के अन्त में जो कलाहीन शून्यता दिखाई देती है वह वास्तविक शून्यता नहीं है, क्योंकि सचमुच यदि वह शून्यता होती, उसके होते हुए पुनः कला का आविर्भाव होकर शुक्लपक्ष का उदय नहीं होता। दोनों सापेक्ष हैं। पूर्णता भी निरपेक्ष नहीं शून्यता भी नहीं। साधारणतः मनुष्यमात्र इसी षोड़श कला से सम्पन्न है।

मनुष्य के जीवन में इसी प्रकार अग्नि और सोम का खेल चलता है। अग्नि सोम का शोषण करता है, पुनः सोम भी वृद्धि को प्राप्त हुआ अग्नि को निर्वापित करता है। इसी का नाम अग्निसोमात्मक जगत् है। इस विश्व में दो प्रकार के देह विद्यमान हैं। एक प्रकार का देह क्षयशील और नश्वर हैं। यह वृद्धि प्राप्त होने पर भी परिणामी और विनाशशील है। प्रदीप प्रज्वलित होने पर भी चिरकाल के लिए प्रज्वलित नहीं रहता। तेल समाप्त होने पर बुझ जाता है। यह तेल ही सोम है, प्रदीप ही देह है। जिस देह में जितनी सोमकला विद्यमान रहती है, वह देह उतने दिन जीवित रहता है। जिस प्रकार तेल समाप्त हो जाने पर प्रदीप बुझ जाता है, उसी प्रकार सोम समाप्त हो जाने पर यह देह भी काल कवलित हो जाता है।

मरणशील देह इसी प्रकार का है। जीवन कितना ही दीर्घकाल स्थायी क्यों न हो, सोमकला रहित होते ही वह मृत्यु के मुख में जाता है। इसीलिए इस जगत् का नाम मृत्युलोक है। किन्तु इस प्रकार का देह भी है जो मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। वही वास्तविक दिव्य देह अथवा अमर देह है। वह सोमकला द्वारा निर्मित है। प्रश्न है कि जब दोनों में ही सोमकला विद्यमान रहती है, तब कोई देह नश्वर और कोई देह अनश्वर क्यों होती हैं? इसका उत्तर इस प्रकार है—पहले ही कहा हुआ है कि चन्द्र की षोड़शी अमृतकला के नाम से प्रसिद्ध है और पञ्चदश कला कालशक्ति के अधीन है। कालशक्ति के अधीन होने से एक समय वह कालग्रसित हो ही जाएगी। पंचदश कला को कालाग्नि शोषित कर सकती है और दूसरी ओर षोड़शी कला काल को नाश करके रहती है। यह षोड़शी कला अमृत

कला है। सुतरां ऐसा भी देह है जिसमें षोड़शी कला संचारित होती है। षोड़शी कला इस प्रकार की एक कला है जो काल के द्वारा नष्ट नहीं होती है। जिसमें अर्थात् जिस देह में षोड़शी कलारूप उपादान विद्यमान रहता है वह देह अमृत-स्वरूप है। उसके साथ पञ्चदश कला निस्सन्देह संयुक्त रहती है एवं उसी कारण साधारण देह के समान वह देह भी काल के परिणाम को प्राप्त होता है—यह भी सत्य है। किन्तु षोड़शी कला की वृद्धि के साथ-साथ कालस्पृष्ट पञ्चदश कला धीरे-धीरे क्षीण होती है। चरम अवस्था में पञ्चदश कला लीन हो जाती है और समग्र देह एकमात्र षोड़शी कला में ही विद्यमान रहती है। यह देह केवल अमर नहीं मृत्युजन्य है। पञ्चदश कला काल की अग्नि में शोषित होती है, किन्तु षोड़शी कला काल को शोषित करती है, यह भी सत्य है। ज्ञानदेह, दिव्यदेह इत्यादि पूर्ण हो जाने पर काल के अधीन कभी नहीं रहता।

अत एव पञ्चदशी एवं षोड़शी—महाशक्ति के यह दो रूप विशेषतया जानना आवश्यक है। पञ्चदशी में जो पूर्णता आती है वह स्थायी नहीं है, वह क्रमशः क्षीण हो जाती है।

३

वास्तविक अकर्तृत्वबोध किसे कहते हैं? इसके साथ शरणागति का क्या सम्बन्ध है?

तुमने जो प्रश्न किया है वह चर्चा के योग्य है, ऐसा मुझे लगता है। विष अथवा अमृत अनजाने में पान कर लेने पर भी, दोनों वस्तुएँ अवश्य ही देहाभिमानी जीव पर अपनी शक्ति प्रकाशित करके ही रहते हैं। उसी प्रकार जिस किसी कारण से उद्भूत अकर्तृत्वबोध, जिसके साथ वास्तविक ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार के अकर्तृत्वबोध और अबोध के अपना-अपना प्रभाव डालने की बात है। तदनुसार श्री भगवान् में शरणागति अथवा इस प्रकार का फल क्यों न उत्पन्न होवे?

इस विषय में पहले जान लो कि इस प्रकार का अकर्तृत्वबोध कार्यक्षेत्र में फल उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है, क्योंकि तुम जानते हो कि जीवमात्र माया के कञ्चुक से आवृत्त है। कञ्चुक छः हैं। उनमें कला, विद्या आदि अन्तर्गत हैं। कला से समझना होगा—किञ्चित् कर्तृत्व, एवं विद्या (अविद्या) से समझना होगा किञ्चित् ज्ञान। प्रत्येक जीव कलादि कञ्चुक से आच्छन्न है। जीव का सर्व-कर्तृत्व नहीं है, यह सत्य है; किन्तु किञ्चित् ज्ञातृत्व भी नहीं है, यह नहीं माना

जाता। किञ्चित् कर्तृत्व का ही पारिभाषिक नाम कला है और किञ्चित्-ज्ञातृत्व का पारिभाषिक नाम विद्या है अर्थात् अविद्या।

जब कञ्चुक नहीं रहता है तब जीव ईश्वर भाव में उन्नीत होता है। किञ्चित कर्तृत्व रहने पर उसका प्रभाव जीव पर अवश्य होता है। परिणामतः जीव में पूर्ण कर्तृत्व का अभाव कभी भी सम्भव नहीं है। यह सत्य है कि नाना कारण से जीव अपने ज्ञान और क्रिया के सम्बन्ध में दुर्बलता अनुभव करता है, किन्तु जीव कुछ भी करने में समर्थ नहीं है—इस प्रकार का स्वाभाविक बोध उसे नहीं है। वस्तुतः यह सत्य है कि जीव में एक अँगुली हिलाने का भी सामर्थ्य नहीं है। किन्तु माया के प्रभाव से जीव समझता है कि उसका सामर्थ्य है। अल्प सामान्य अंग संचालन—वह भी किञ्चित् कर्तृत्व सापेक्ष है। जब वह नहीं रहता और न रहने का बोध परिस्फुट हो उठता है—वह अति उच्च अवस्था है।

यह सत्य है कि तुमने जिस दृष्टिकोण से प्रश्न किया है, उस दृष्टिकोण से वस्तुशक्ति की महिमा अवश्य स्वीकार करनी होगी। विष एवं अमृत जिस प्रकार अपना-अपना प्रभाव फैलाते हैं, ठीक उसी प्रकार महामाया से उत्पन्न ज्ञान अपना प्रभाव फैलाता है। हम माया से परिचित हैं, किन्तु माया के ऊपर महामाया विद्यमान है। उसी का दूसरा नाम बिन्दु अथवा चिदाकाश है। यही कुण्डलिनी शक्ति है। सद्गुरु इस महामाया से उद्भूत शुद्धविद्या का आश्रय लेकर मुमुक्षु जीव को ज्ञानदान करते रहते है। हमारा लौकिक ज्ञान माया से उत्पन्न है। बुद्ध अवस्था में इसी ज्ञान द्वारा हम चालित होते हैं, किन्तु गुरुकृपा से जब महामाया अथवा बिन्दुशक्ति क्षुब्ध होकर शुद्ध विद्यारूप परमज्ञान को उत्पन्न करती है तब उस ज्ञान से भूषित हुआ जीव मायिक जगत् से उन्नीत हुआ महामाया जगत् में क्रमशः उन्नीत होता है। तब जीव प्राकृत अथवा मायिक सम्बन्ध से पृथक् प्रकार चिदाकाश में संचरण करना आरम्भ करता है। यह जो शुद्धविद्या की क्रिया है, यह क्रमशः जीव को मन्त्रभूमि से ईश्वर भूमि में और वहां से सदाशिव एवं शक्तिभूमि तक पहुँचा देती है।

यह जो शुद्ध विद्या है, इसमें ज्ञान और क्रिया मिश्रित रहते हैं। इसके प्रभाव में एक ओर जिस प्रकार सर्वज्ञान, दूसरी ओर उसी प्रकार सर्वकर्तृत्व व्यक्त होता है। यह सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व इत्यादि धर्म महामाया के अधिष्ठाता शिव का धर्म है, जीव का धर्म नहीं। किन्तु जीव क्रमिक ऊर्ध्वगति के प्रभाव से शुद्ध अवस्था को प्राप्त होकर शिव के साथ नित्य युक्त हो जाता है। तब शिव, शक्ति और जीव नित्य मिलित अवस्था को प्राप्त होते हैं। यह पूर्णत्व नहीं है—इसे कहते ही हैं बाहुल्य किन्तु अति उच्च अवस्था है। किन्तु जिसको भक्ति और शरणागति कहा जाता है, उसके लिए और भी कुछ आवश्यक है। जीव एक पथ में जाकर शिव की शक्ति प्राप्त करता है, किन्तु तब भी उसके लिए व्यवधान रहता है। इस व्यवधान

के दूर करने में भी जीव सकल (कलायुक्त) रहता है। किन्तु शरणागति की अवस्था के पहले जीव के लिए ईश्वर या परमात्मा का साक्षात्कार अवश्य है। क्योंकि साक्षात्कार न होने तक जीव समझ नहीं सकता कि यह विश्वजगत् किसके द्वारा चालित होकर निरन्तर क्रिया के पथ में चल रहा है। गुड़िया जब नृत्य करती है तब जो दर्शक हैं, वे स्वभावतः सोचते हैं कि गुड़िया नाचती है। किन्तु जो सूक्ष्म-दर्शी हैं वे समझते हैं और देख सकते हैं कि गुड़िया नहीं नाचती है, कोई ऊपर से अदृश्यभाव में उसको नृत्य कराता है। मनुष्य जितनी देर ईश्वरोन्मुख होकर उनका सर्वकर्तृत्व और अपना अकर्तृत्व बोध नहीं करता, उतनी देर ईश्वर के प्रति शरणागत होना उसके लिए सम्भव नहीं है। जीव तब समझता है कि वह कर्ता नहीं है, कर्ता ईश्वर है, एवं उसी कर्ता की शक्ति के अधीन होकर वह क्रिया में प्रवृत्त होता है। गुड़िया नाचती है किन्तु जो उसे नचाता है, गुड़िया उसे नहीं जानती। वैसी ही दशा जीव की है। ईश्वर का सर्वकर्तृत्व जीव को सम्पूर्ण रूप से आच्छादन करता रहता है। जीव जब यह सर्वकर्तृत्व अनुभव करता है एवं समझ सकता है कि इसी कर्तृत्वशक्ति ने उसे क्रिया में प्रवृत्त किया है, तभी वह वस्तुतः समझने में समर्थ होता है कि उसे अपना कर्तृत्व नहीं है। साधारण अवस्था में यह नहीं होता। क्योंकि जीवमात्र के ऊपर कलाकञ्चुक है इसलिए वह अपने को सर्वथा अकर्त्ता समझने अथवा अनुभव करने में समर्थ नहीं होता।

ईश्वर का सर्वकर्तृत्व साक्षात् होने से अपना किञ्चित्कर्तृत्व कट जाता है। एकमात्र तभी कर्म से उसकी अव्याहति होती है। कर्तृत्वबोध रहने पर कर्म अवश्यम्भावी है। कर्तृत्वबोध से मुक्त हुआ ईश्वर का सर्वकर्तृत्व अनुभव करना होता है। इसके बाद वह कर्मफल से निष्कृति लाभ करता है और अपने को सदा भगवान् के आश्रित समझता है। इस अवस्था में विशिष्ट आत्मा में भक्ति का उदय होता है एवं और भी अधिक वैशिष्ट्य रहने से शरणागति का भाव अभिव्यक्त होता है। इस समय जीव का किञ्चित्कर्तृत्व नहीं रहता, ईश्वर के सर्वकर्तृत्व द्वारा वह आच्छन्न हो जाता है। इस अवस्था में कर्म का उपसंहार है। केवल वर्तमान कर्म नहीं, अनादि काल के कर्मसंस्कार सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। कर्मसंस्कार के न रहने से पाप अथवा पुण्य कहाँ? प्रसिद्ध है—

> "धर्माधर्मौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे,
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः॥"

यह नितान्त सत्य है।

जीव ईश्वर के हाथ में खिलौना है। वे उसका जिस प्रकार सञ्चालन करते हैं, वह ठीक उसी प्रकार चलता है। उसकी अपनी शक्ति कुछ भी नहीं है। अपनी शक्ति होने से किञ्चित्कर्तृत्व अवश्यम्भावी है। उस अवस्था में पाप अथवा

पुण्य अवश्यम्भावी है। शरणागति के लिए पूर्वप्रकार का अपरोक्ष ज्ञान आवश्यक है। इस अपरोक्ष ज्ञान के उदित होने के बाद जीव अपने चिरसखा ईश्वर को सदा देख पाता है एवं उसकी संचालन क्रिया भी अनुभव करता है। यह जो सञ्चालन क्रिया है, इसके फलस्वरूप उसके जितने पाप और मलिनता दूर हो जाए एवं वह धीरे-धीरे विज्ञानभूमि को प्राप्त होकर और वहां उत्तीर्ण होकर आनन्दमय भूमि में उपस्थित होता है। उसके बाद जीवभाव कट जाता है। उसमें नित्य निहित ईश्वरत्व फूट उठता है। इसीलिए नित्यसिद्ध ईश्वर की कृपा पाकर जीव भी ईश्वरत्व लाभ करते हैं एवं विश्वकल्याण का कारण बन जाते हैं।

शरणागति प्राप्त होने से कई एक गुणों का प्रकाश होता है। उन में एक मुख्य है—महाविश्वास अर्थात् अखण्ड नित्यस्थायी विश्वास का आविर्भाव। संशय सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था में ईश्वर नित्य है, जीव भी नित्य है।

४

भ्रूमध्य में ज्योति के ध्यान का क्या प्रयोजन है?

स्मरण रहे कि साधारणतः मनुष्य क्षिप्त और मूढ़भाव में रहता है, उसके लिए किसी प्रकार साधना की चर्चा आवश्यक नहीं। किन्तु जिनका चित्त विक्षिप्त हो और समय-समय पर सत्त्वगुण के आवेश के वशीभूत अन्तर्मुखी हो, किन्तु स्थायी न हो, उनके लिए साधना की चेष्टा आवश्यक है। इस चेष्टा के फलस्वरूप चित्त एकाग्रभूमि पर उठता है एवं उस स्थल पर स्थित होकर कार्य करता है। एकाग्रभूमि में उठने से चित्त की विक्षिप्तता नहीं रहती। तब चित्त एक लक्ष्य में निविष्ट होने के फलस्वरूप लक्ष्य वस्तु का प्रकाश रहता है।

अब यही प्रश्न है कि एकाग्र अवस्था के उदय के साथ ज्योति के उदय का कोई सम्बन्ध है कि नहीं? उत्तर यही है कि एकाग्र अवस्था का उदय न होने से ज्योति का उदय होना सम्भव नहीं है। बिखरी हुई सत्ता को एकत्रित करने से ज्योति का उदय होता है। ज्योति का उदय होने से अव्यक्त अप्रकाशित सत्त्व प्रकाशित होता है। यह जो ज्योति का उदय है, वह पहले सामयिक भाव में रहता है। किन्तु जब ज्योति स्थायीभाव में प्रकाश पाती है तब सत्य जो निगूढ़ था उसका क्रमशः प्रकाशित होना आरम्भ होता है। यह जो एकाग्रभूमि है, इस विषय में ध्यान रखना होगा कि इसके परे निरोधभूमि है। एकाग्रभूमि पर सत्य का उदय होने से उसके परे निरोध आवश्यक है। यह ज्योति का उदय है, यही प्रज्ञा अथवा

ज्ञान है। ज्ञान का उद्देश्य ज्ञेय को प्रकाशित करना है। ज्ञेय के प्रकाशित होने से आकांक्षा की निवृत्ति होती है और अज्ञान की क्रिया शान्त होती है। उसके बाद निरोध अपने वशीभूत होते ही विकसित होता है। किन्तु एकाग्रभूमि को अतिक्रम किए बिना निरोध में प्रवेश करना उचित नहीं।

क्यों समीचीन नहीं है—यह मैं बताता हूँ। जिनका आधार शुद्ध नहीं, एकाग्र भूमि को अतिक्रम किए बिना चित्त निरुद्ध करने से चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है। यह प्रकृति लीन अवस्था भी असम्प्रज्ञात अवस्था के अन्तर्गत है, किन्तु यह योग नहीं है। योग की अवस्था भी असम्प्रज्ञात है, सन्देह नहीं, किन्तु वह सम्प्रज्ञात की परवर्ती अवस्था है। ज्ञान का उदय होने से ज्ञान का निरोध हो जाता है—उससे अज्ञान की निवृत्ति और उपशम की प्राप्ति होती है। किन्तु प्रकृति लय की अवस्था जड़त्व है—उससे अज्ञान निवृत्ति की कोई सम्भावना नहीं है।

साधारणतः सब मनुष्यों का चित्त चञ्चल है। यह चञ्चलता विक्षेप से होती रहती है। वस्तुतः लय और विक्षेप, यह दो योगपथ के विघ्न हैं। जो जिस प्रकार साधना करते हैं, साधनाकाल में भ्रूमध्य में अथवा दोनों भौहों के कुछ ऊपर ज्योति चिन्ता करने से साधना के पथ में अनेक उपकार प्राप्त हो जाते हैं। इस ज्योति का निर्मल ज्योति होना आवश्यक है। इसीलिए योगीगण नवोदित सूर्य को ध्यान का विषय बताकर ग्रहण करना बोलते हैं। नवोदित सूर्य का अखण्ड मंडलाकार रूप ध्यान का विषय होना उचित है। प्राचीनकाल में योगीगण का भ्रूमध्य में बिन्दु धारण करने का यही उद्देश्य था। यह बिन्दु ही ज्योतिर्मय बिन्दु है। प्रतिदिन अपने-अपने साधन व्यापार को करने के पश्चात् इस ज्योतिमर्य बिन्दु पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। केवल उतना ही नहीं, दिन अथवा रात्रि के विभिन्न समय में, जाग्रत् अवस्था में सब समय में यथाशक्ति इस बिन्दुचिन्तन का अभ्यास रखना आवश्यक है। यह कल्पित बिन्दु है, यह सत्य है, किन्तु कल्पित होते हुए भी यह सत्य है—यह सवितृज्योति है। गायत्री मन्त्र की साधना में भी यह रहस्य परिस्फुट है जिसको समयान्तर में स्पष्ट करके बोलूंगा।

इस निर्मल ज्योति का ध्यान करते-करते अर्थात् मन में निरन्तर दर्शन करते-करते क्रमशः एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठा होगी। इस स्थल पर एक विषय पर ध्यान दो। यह जो मनुष्य के चित्त में विक्षेप बनता है, इसके मूल में विकल्प का खेल है। यह सब विकल्प दो प्रकार के हैं—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध विकल्प को त्याग करके शुद्ध विकल्प में स्थिति ग्रहण करनी होगी। उसके बाद शुद्ध विकल्प और निर्विकल्प परमपद में लीन हो जाते हैं। इस शुद्ध विलल्प की अवस्था, कर्म, ज्ञान और भक्ति नाना प्रकार के योग का परम लक्ष्य है। मातृका में भाषा की उत्पत्ति है, एवं सब प्रकार की चिन्ता का प्रवाह फैलता है। भाषा ज्ञान ही विकल्प

ज्ञान है—निर्विकल्प पद में भाषा नहीं है। शुद्ध विकल्प में से होकर निर्विकल्प में उपनीत होना होता है। मातृका वर्ण समष्टि है। यह सब वर्ण भाषा के अङ्गीभूत हैं। संस्कृत नहीं, जगत् की जितनी भाषाएँ हैं, मातृका से उद्भूत हैं। यह सब मातृका अथवा वर्ण जितनी देर विगलित नहीं होते, उतनी देर तक उनका स्वभाव ही है, विकल्प उत्पादन करना, विकल्प अर्थात् विक्षेप। यह सब मातृका जितनी देर क्रियाशील रहतीं हैं, उतनी देर चित्त विक्षिप्त रहता है—एकाग्रभूमि में प्रवेश नहीं कर सकता। प्राचीन आचार्यगणों ने इन सब मातृकाओं को विगलित करके बिन्दु रूप में परिणत करने का उपदेश दिया है। जिस प्रकार एक पिण्ड सोना टुकड़ा-टुकड़ा करके नाना प्रकार के अलङ्कारों में परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही बिन्दु अथवा महाबिन्दु विभिन्न मातृकारूप में आत्मप्रकाश करता है। इसमें देशकाल का कोई प्रश्न नहीं है। यह अनादिकाल से होता है। अर्थात् जो कोई प्रक्रिया अवलम्बन करनी हो, इसको विगलित करना होगा। मातृका के नष्ट हो जाने पर निर्विकल्प अवस्था के उदय का सहायक होता है। हम लोग षट्चक्र की साधना करते रहते हैं, उनका एक मात्र उद्देश्य मातृकासमुदाय को नष्ट करके एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित होना है। मूलाधार से आज्ञाचक्र तक जो सब चक्र हैं, वह सब मातृका द्वारा रचित हैं। इस मातृका रचना को क्रिया में सभी चक्र स्वल्पाधिक सहायता करते हैं, एवं ईड़ा पिङ्गला की वक्रगति भी इस क्रिया में सहायक होती है। क्रमशः मातृकासमुदाय नष्ट होके बिन्दुरूप में परिणत होना, यह बिन्दु का क्रमशः ऊर्ध्वमुख में उन्नीत होना है। मातृका से बिन्दु में जाने के लिए नाद के मध्य से होकर जाना होता है; अर्थात् मातृकासमुदाय में नष्ट होते ही नाद का उदय होता है। अन्तर्मुखी प्रवाह है। प्रत्येक चक्र इस प्रकार नाद से बिन्दु में प्रवेश करता है। लेकिन ध्यान रहे कि सुषुम्ना के भीतर ऊर्ध्वशक्ति क्रिया करती है, उस को छोड़कर सर्वत्र मध्याकर्षण का नियम है। किन्तु एकमात्र सुषुम्ना में ही ऊर्ध्वकर्षण शक्ति की क्रिया हैं। इसीलिए एकमात्र अधोवर्ती एक चक्र का बिन्दु ऊर्ध्ववर्ती चक्र में स्वतः ही लिया जाता है। इस प्रकार सर्वोच्च आज्ञाचक्र के बिन्दु में जाकर स्थिति होती है।

५

शुद्ध विकल्प किसे कहते हैं ?

शुद्ध विकल्प के सम्बन्ध में कुछ बोलने से पहले मैंने पहले ही बोल रखा है कि साधारण लोगों का शब्द के सम्बन्ध में जो ज्ञान रहता है वह भ्रान्त है। शब्द

अथवा वाक् बोलने से हम कण्ठोच्चारित शब्द अथवा बाह्य वस्तु के संकर्षण को बोलते रहते हैं। जिसको हम ज्योति बोलते हैं, रूप बोलते हैं, वही शब्द है। तन्त्र मतानुसार एवं वेद के मतानुसार शब्द ब्रह्मस्वरूप है। शब्द को शब्दब्रह्म कहते हैं जो शब्द से अतीत है उसे परब्रह्म कहते हैं। शब्दब्रह्म और परब्रह्म भेद में ब्रह्मवस्तु दो प्रकार का है। परब्रह्म विशुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप है। शब्द ब्रह्म परब्रह्म का ही शक्ति-आत्मक रूप है। जिसे वाक्तत्त्व कहते हैं वह शब्द ब्रह्मस्वरूप है। परब्रह्म शक्ति के साथ अभिन्न होते हुए भी वह उसके अतीत है। यह परब्रह्म जब सृष्टि के मुख में आत्मप्रकाश करता है, तब उसी का नाम है शब्दब्रह्म एवं इसी का ही दूसरा नाम है परावाक्। परावक् अवस्था सृष्टि की अतीत अवस्था है। इस अवस्था में परब्रह्म अथवा आत्मापूर्ण 'अहं' रूप में विराजित होती है। इस स्थिति में देश नहीं रहता, काल नहीं रहता, जगत् का विचित्र भान नहीं रहता, अधः और ऊर्ध्व विभाग भी नहीं रहता, विश्व नियामक भी नहीं रहता। तब रहता है एकमात्र सच्चिदानन्दमय स्वयं प्रकाश स्वरूप। इस अवस्था में इदं (यह) बोलने से किसी पदार्थ का निर्देश नहीं किया जाता है। एक अखंड पुरुष—उत्तम पुरुष। तब मध्यम पुरुष अथवा प्रथम पुरुष नहीं है, किन्तु नहीं बोलने से भी वास्तविक रहस्य उद्घाटन नहीं किया जाता। वह ब्रह्म का कूटस्थ रूप है—शान्त, निष्क्रिय, अंग्रेजी में जिसको Static कहते हैं वही। ब्रह्म की एक और दिशा है जो dynamic स्पन्दात्मक शक्तिरूप है। दोनों एक ही वस्तु है। किन्तु एक ही वस्तु की दो दिशाएँ हैं। उसी द्वितीय को शब्दब्रह्म बोलते हैं। यह स्वातन्त्र्यशक्ति का परम आश्रय है। यही परावाक् है। परवर्ती समय में इसी को उमा बोलते हैं, ओङ्कार भी बोलते हैं। सृष्टि के समय में विश्व का आविर्भाव होता है। उस समय का ही नाम जगदम्बा है। यह अवस्था पूर्ण अहन्तामय है। उस स्थिति में सब है, पर है अहं रूप में। द्वितीय रूप का आभास उस स्थिति में नहीं रहता। परमात्मा स्वातन्त्र्य के वश और लीला के बहाने जब विश्व रूप में सुशोभित होने के लिए उद्यत होता है, तब जगत् के अनन्त वैचित्र्य इस पूर्ण परम सत्ता से आविर्भूत होते हैं। इस पूर्ण सत्ता में पूर्ण को छोड़कर कुछ भी नहीं है फिर भी सब है। समग्र विश्व शब्दरूप में—परावाग्रूप में इसमें निहित है। स्वातन्त्र्य अथवा ख्याल के वश में अथवा लीला के बहाने वे जब उन्मुख होते हैं, तब इसका विकास होता है। इसका ही नाम परावाक् होने से विश्व का आविर्भाव है। वेद भी यह है, तन्त्र का भी यही मर्म है। परम सत्ता में स्वातन्त्र्य है। वह विमर्शरूप में क्रिया करती रहती है। जब आविर्भाव होता है तब अहं से इदं भाव का ही आविर्भाव होता है, जिसमें सब भाव का ही अस्तित्व है। सिद्ध आचार्यगण का कहना है, इस पूर्ण अहं से जब स्फुरण होता है तब क्रमशः पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी, इस क्रम में विश्व का आविर्भाव होता रहता है। परम स्वरूप में काल नहीं रहता, देश भी नहीं रहता

किन्तु परमसत्ता से सर्वप्रथम महाकाल का आविर्भाव होता है। इसका ही दूसरा नाम महासत्ता है। इसी महाकाल में त्रिकाल की सब वस्तु है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण क्रमशून्य भाव में निहित है। क्रम काल का धर्म है। महाकाल में वह क्रम नहीं रह सकता है। फिर भी है सब जगह। उस जगह पूर्ण अहं पृथक्-पृथक् अहं रूप में प्रकाश पाता है। इस स्थिति का नाम महासत्ता है। इसके बाद जो विभाग है उसका ही तीन भागों में पृथक्-पृथक् रूप में मैं निर्देश करूँगा। सर्वप्रथम पश्यन्ती है। यह अवस्था जगत् के अतीत है फिर भी परावस्था से हीन है। क्योंकि परावस्था में इदं भाव का समावेश नहीं है, लेकिन इस अवस्था में वह है। इस स्थल में जो ज्ञान है, ज्ञान का विषय और शब्द अर्थात् ज्ञान का अभिव्यञ्जक शब्द नित्यरूप में निहित हैं अर्थात् यह एक समष्टि स्वरूप है अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त वाचक शब्द और अनन्त पदार्थ समष्टि भाव में इस जगह एक हो गए हैं। योग्य क्रियाशील योगी इससे इष्ट वस्तु बाहिर करने में समर्थ है। यह विशुद्ध चैतन्य की अवस्था है। इस अवस्था के बाहिर चित्त अथवा मन का उदय होता है। चित्त जब तक शुद्ध रहता है तब तक यह पृथक्-पृथक् रूप में प्रकाशमान होता है। यह इन्द्रिय गोचर या मन के भी गोचर नहीं है। यह विशुद्ध संकल्पमय राज्य है। इस स्थल पर अनन्त रूप हैं एवं प्रत्येक की स्थिति विशुद्ध है। इसी को कहते हैं वाक् की मध्यम अवस्था। इस मध्यम अवस्था के दो विभाग हैं।

इतनी देर हम शुद्ध आकाश को अवलम्बन करते हैं। तब पहले चिदाकाश उसके बाद चित्ताकाश पाते हैं। इसके बाद वायु का स्तर आरम्भ होता है। इसी वायुमण्डल में अशुद्ध चित्ताकाश विद्यमान है। इससे समझा गया कि चित्ताकाश में दो भाग हैं—एक शुद्ध है। वहाँ वायु अथवा मातृकारूप शब्द अथवा वर्णमाला भी नहीं हैं। दूसरा अशुद्ध चित्ताकाश है—यहाँ वायु प्रधान है एवं इस वायु के प्रभाव में अशुद्ध शब्द का अर्थात् वर्णमाला का उदयास्त होता है।

इसके बाद वैखरी भूमि आलोच्य है। यहाँ स्थूल वायु क्रिया करती रहती है एवं नाद बिन्दु रूपी शब्द वर्ण रूप में प्रकाश पाता है। इसी वर्ण-माला द्वारा जगत् की जितनी भाषाएँ हैं, रचित जाननी होंगीं। वर्णमाला समझनी है, ऐसी कोई बात नहीं। इस जगत् की सब भाषा वर्णमाला द्वारा रचित है। बाह्य वायु के द्वारा रचित वर्णमूलक भाषा द्वारा जगत् का सारा व्यवहार होता रहता है। इस स्थल पर वाचक और वाच्य भिन्न हो जाते हैं। केवल मध्यमा के स्थल पर वाच्य और वांचक में भेदा-भेद सम्बन्ध रहता है एवं सम्यक् केवल शब्द अथवा वाचक, वाच्य अर्थ के साथ सर्वथा अभिन्न है।

इस प्रसंग में एक विषय का उल्लेख करना अच्छा है जिसको योगीगण निरन्तर अनुभव करते रहते हैं लेकिन ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। यह अन्त वैखरी का व्यापार है। वैखरी भाषा के उच्चारण में बाह्य वायुमण्डल कल्पित

होता है, यह बाह्य वैखरी का का व्यापार है, क्योंकि वायु के कम्पन के बिना वैखरीवाक् उच्चारित नहीं हो सकती। किन्तु अन्तर्वैखरी से बाह्य वायु का कम्पन नहीं होता, आन्तरिक वायु का कम्पन होता है। भूत-प्रेत परलोक सम्बन्धी आत्मा इत्यादि की जो भाषा सुनने में आती है, वह अन्तर्वैखरी की है। इसीलिए उसके द्वारा बाहिर का वायुमण्डल कम्पित नहीं होता। वैज्ञानिक यन्त्र द्वारा उस को पकड़ने का उपाय नहीं है किन्तु अन्तर्वायु का कम्पन होता ही है। इसीलिए यह भ्रामक है। अशुद्ध मध्यमा और अन्तर्वैखरी में घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु शुद्ध मध्यमा अशुद्ध विकल्पशून्य, ज्योतिर्मय एवं शुद्ध विकल्प रूप में प्रकाशमान हैं। साधारण साधकगण के इष्टदेव का प्रकाश इस शुद्ध विकल्प के राज्य में इस प्रकार प्रकट होता है। प्रचलित भाषा में जिसको दिव्य रूप कहा जाता है वह भी इस शुद्ध विकल्प के राज्य में है। जगत् में हम जो रूप देख पाते हैं वह अशुद्ध विकल्पमय हैं। नाम लेते-लेते अथवा ठीक प्रकार जप करते-करते शुद्ध विकल्प का उदय होता है। यह ज्योतिर्मय है। चित्त शुद्ध न होने से इसका प्रकाश नहीं होता। किन्तु जितना भी शुद्ध क्यों न हो, यह भी मनोमय है, चिन्मय नहीं, तब भी चैतन्य प्रधान है। यह आन्तरिक अवस्था है। बाहर इसका स्फुरण नहीं होता है। इसके बाद यह शुद्ध विकल्प ही विकल्पशून्य होकर आत्मस्वरूप में प्रकाशमान होता है। इसका ही नाम जीवात्मा का आत्मदर्शन अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप-दर्शन है। यह साधक का अपना ही रूप है एवं स्वयं प्रकाश होकर अपने निकट प्रकाशमान है। इस स्थल पर बात यही है कि शुद्ध विकल्प में साधक इष्ट दर्शन करने पर वे विकल्प भूमि में ही रहते हैं, आत्मस्वरूप में अपना दर्शन नहीं पाते हैं। जब यह इष्ट स्वरूप की चिदात्मारूप में निज स्वरूप में प्रकट होता है, तब वही है अपना स्वरूप दर्शन अथवा आत्मदर्शन। जो यह खण्ड आत्मा का स्वरूप दर्शन अथवा आत्मदर्शन है। इसे बाहुल्य कहा है। यह होता है पश्यन्ती अवस्था में। परावाक् में प्रवेश कर सकने पर यह खण्ड अहं पूर्ण अहं रूप में प्रकाश पाता है।

६

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।"

इस श्लोक का वास्तविक तात्पर्य क्या है ?

उद्धृत किया हुआ, आचार्य शंकर के एक श्लोक का अंश मात्र है। उन्होंने जब श्लोक की रचना की थी तब वे अद्वैत ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए थे,

इसमें सन्देह नहीं। इससे समझा जाता है कि साधारणतः ज्ञान भक्ति के बाद उदित होता है, तभी कहा गया है, "भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते"। किन्तु वास्तविक भक्ति जो है वह अद्वैतज्ञानी के हृदय में ज्ञान के बाद ही उदित होती है। शंकर ने कहा है—ज्ञान के द्वारा भेद सब प्रकार अन्तर्हित हो जाने पर, अभेद स्वरूप में एक ही स्वरूप का प्रतिभान होता है। अर्थात् यह अवस्था यथार्थ अद्वैत अवस्था है, उसमें सन्देह नहीं है। भेद के अभाव वश अद्वैत स्वरूप की प्राप्ति होने पर भी भक्ति के अवसर से युक्त नहीं होता है। नदी की तरंग और जल दोनों ही एकमात्र जल का स्वरूप है। तब भी मनुष्य व्यवहारकाल में दोनों का पृथक् रूप में उल्लेख करके व्यवहार करता है एवं कहता है कि जल की तरंग; तरंग का जल, यह बात कोई नहीं बोलता। उसी प्रकार जीव भगवान् के स्वरूप सम्बन्धी एक भाव को प्राप्त होने पर भी, दोनों को एक बोलने का निर्देश नहीं किया जाता। भगवान् और भक्त आत्मा है—दोनों ही अभेदात्मक होने पर भी, भगवान् को आश्रय और भक्त को आश्रित मानना होगा। इसीलिए गीता में कहा है—'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति' यह बोलने के बाद कहा गया है—"मद्भक्ति लभते पराम्" अर्थात् आत्मा जो ब्रह्मस्वरूप है वह ज्ञान के द्वारा प्राप्त होते ही 'मद्भक्ति' इस वाक्य के द्वारा समझना होगा कि ज्ञान के बाद पराभक्ति प्राप्त होती है। पराभक्ति स्वरूप भक्ति है, उसके प्राप्त करने पर अद्वैत ज्ञान का प्राप्त होना आवश्यक है। अद्वैत ज्ञान प्राप्त होने के बाद भाग्यवान् साधक को पराभक्ति प्राप्त होती है। अद्वैत ज्ञान के प्राप्त होने पर, भक्त और भगवान् का स्वरूप मूलतः अभिन्न प्रतीत होने पर भी एवं जीव की आत्मा ज्ञान की महिमा में ब्रह्मस्वरूप के साथ अभिन्न होने पर भी ब्रह्म को ही श्रेष्ठ बोलना स्मरण रखिए, एवं जिसके फलस्वरूप इस अद्वैतभूमि में भी उनके प्रति उनकी भक्ति नहीं होना सम्भव नहीं। इस प्रकार की भक्ति का नाम पराभक्ति है। जो शुष्क ज्ञानी हैं, वे इस भक्ति-रस का आस्वादन नहीं कर सकते। लेकिन भक्त पराभक्ति की अवस्था को प्राप्त हुआ निरन्तर उनकी महिमा का अनुभव करता रहता है। भाग्यवान् भक्त ज्ञान के द्वारा भगवान् के साथ निज अभिन्नता बोध करके और अनन्त काल उनकी महिमा का कीर्तन करने के लिए बाध्य होता है। यह ज्ञानोत्तरा भक्ति है। वह ज्ञान के बाद उदित होती है। ज्ञान के पहले जिस भक्ति का उदय होता है वह ज्ञान में पर्यवसित होती है अर्थात् ज्ञान के पहले जिस भक्ति का उदय होता है, ज्ञान के उदित होने पर वह और नहीं टिकती। वह किन्तु पराभक्ति नहीं, क्योंकि यह भक्ति ज्ञान रूप में पर्यवसित होती है—एवं उसका लक्ष्य, मोक्षप्राप्ति है। किन्तु ज्ञानोत्तरा भक्ति आत्मा को सदा के लिए भगवान् की महिमा अनुभव करने में बाध्य कराती है।

पूर्वोक्त विवरण में समझा जाता है कि ज्ञानी दो प्रकार के हैं एवं भक्त भी दो प्रकार के हैं। एक प्रकार का ज्ञानी भक्तिसाधना के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके

भगवद्धाम अद्वैत रूप में पहुँच के वहीं मोक्ष प्राप्त करता है एवं यहाँ उसका गति-रोध होता है। और एक प्रकार के साधक ज्ञान प्राप्त करके भी भगवान् के गुण-कीर्तन में भी नित्य तन्मय रहते हैं। इनकी जो भक्ति है वही ज्ञानोत्तरा भक्ति है— यही पराभक्ति है, इस प्रकार की भक्ति की समाप्ति नहीं क्योंकि यह अहैतुक है। अन्य प्रकार की भक्ति की समाप्ति होती है क्योंकि ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। ज्ञानोत्तरा भक्ति मोक्ष को तुच्छ मानती है।

७

आत्मा में आत्मदर्शन, सर्वभूत में आत्मदर्शन एवं आत्मा में सर्वभूत दर्शन; इनका क्रम क्या है ?

तुम्हारे प्रश्न में कुछ अस्पष्टता रही है। तुमने यहाँ दर्शन की बात कही है, ज्ञान की बात नहीं। दर्शन और ज्ञान अनुभूति के दो पहलू हैं। योगपथ और ज्ञानपथ के अधीन होने से अनुभूति पूर्णतासम्पन्न होती है। ज्ञानहीन दर्शन एवं दर्शनहीन ज्ञान, दोनों असम्पूर्ण हैं। हम साधारणतया देह और मन को आश्रय करके वस्तु का स्वरूप समझने की चेष्टा करते हैं। उसके अनुसार दर्शन और ज्ञान में वैलक्षण्य अनुभूत होता है। लौकिक एवं व्यावहारिक जगत् में किसी वस्तु का दर्शन होने से उसका ज्ञान न भी होना सम्भव है। इन्द्रिय के साथ पदार्थ का सन्निकर्ष, मन के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष एवं आत्मा के साथ मन का सन्निकर्ष, यह सब न रहने पर प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। उसको छोड़कर सहकारी रूप में आलोक इत्यादि निमित्त की आवश्यकता है। यह सब कारण सम्मिलित होने पर दर्शनव्यापार सम्पन्न होता है। किन्तु वह होने पर भी वस्तुविषयक पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। यह अति साधारण वस्तु है। लौकिक दृष्टि में दर्शन होने पर भी इन्द्रिय ज्ञान भी असम्पूर्ण रहता है। क्योंकि दर्शन होने पर वस्तु की एक दिशामात्र साक्षात्कृत होती है, देशभेदकृत, और कामभेदकृत अन्यान्य दिशाएँ आच्छन्न रहती हैं। उसको छोड़कर स्थूल वस्तु का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, विविध गुण रहते हुए भी केवल रूप का ही साक्षात् होता है, सुतरां ज्ञान परिच्छिन्न है, यह कहना ही पर्याप्त है। उसको छोड़कर दर्शन कालावच्छिन्न रूप में होता है, अतीत एक विशिष्ट क्षण का ही दर्शन होता है, अतीत और अनागत अवस्था का दर्शन नहीं होता। इस प्रकार के बहुत अवच्छेद (limitations) रहते हैं। ज्ञान के सम्बन्ध में मन का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ है। मन की एकाग्रता जिस परिमाण में वृद्धि को प्राप्त होती है उसके अनुसार ज्ञान का विकास सम्भव है। यह हुई लौकिक दर्शन

और ज्ञान की बात। दोनों ही जगह अर्थात् दर्शन एवं ज्ञान दोनों क्षेत्र में ही इदं रूप भाव रहता है। किन्तु आत्मदर्शन और आत्मज्ञान इस प्रकार का नहीं है।

अखण्ड महाप्रकाश ही आत्मा का स्वरूप है। उसकी अहंरूप में उपलब्धि कराना ही आत्मा की उपलब्धि है। अहं रूप में उपलब्धि न कर सकने पर व्यापक महाशून्यरूप में उपलब्धि करने पर भी उसको आत्मोपलब्धि नहीं कहा जा सकता। साधारणत: सविकल्पक रूप में आत्मा की उपलब्धि आत्मज्ञान रूप में परिचित है। यह उपलब्धि विकल्पशून्य होने पर आत्मदर्शन है। आत्मस्वरूप की उपलब्धि में चरम अवस्था में इन्द्रिय और मन की कोई कार्यकारिता नहीं रहती। यह हुई एक पक्ष की बात। इससे भिन्न और भी एक पक्ष है। उस दिशा से आलोचना करने पर जाना जाता है विचित्र शक्ति के द्वारा मन और इन्द्रिय संस्कार मुक्त होने पर एवं उससे पूर्व आत्मा निर्विशेष अवस्था में ले जाने से चितशक्ति सम्पन्न होने पर (श्री गुरु की महाकरुणा से) मनोभूमि में एवं इन्द्रिय-भूमि में दर्शन सम्भव होता है एवं ज्ञान भी सम्भव होता है। जब सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है और आत्मा में एकीभूतरूप में प्रकाश शक्ति का उदय नहीं होता, तब भी आत्मदर्शन नहीं होता। निरोध के परिणाम में भाग्यवश विवेक के प्रभाव में चिदुन्मेष स्पष्टीभूत होने पर उसको आत्मस्वरूप बोलकर ग्रहण करना सम्भव है क्योंकि तभी साथ-साथ अनात्मरूप में गुणसाक्षात्कार होता रहता है। इसके बाद ही गुणसम्बन्ध से पृथक्कृत आत्मभाव का साक्षात्कार होता है, किन्तु आत्मरूप में नहीं—गुणसम्बन्धवर्जित आत्मरूप में। यह आत्मा की केवल अवस्था का द्योतक है। यह आत्मसाक्षात्कार होने पर भी आत्मरूप में आत्म-साक्षात्कार नहीं है, यह निर्गुण आत्मा का स्वरूप साक्षात्कार है। किन्तु आत्मभाव का उदय इस स्थल पर संभव नहीं। आत्मभाव का उदय होने से ही, उसे केवल अवस्था नहीं कहा जा सकता। इसका नाम अस्मिता है। इसका एक मात्र कारण चिद्रूपा आत्मशक्ति के विकास का अभाव है। इस आत्मशक्ति का विकास ही सद्गुरु के शुद्धविद्यारूप महानुग्रह का एकमात्र फल है। इस प्रकार अनुग्रहप्राप्त आत्मा केवल केवलरूप में अपने दर्शन नहीं करता, किन्तु अहं रूप में दर्शन करता है। यही महाशक्ति का खेल है। इस प्रकार आत्मदर्शन पूर्ण होने पर इसी का नाम है परमात्मदर्शन। क्योंकि इस स्थिति में परमात्मा के दर्शन करना एवं अपने दर्शन करना एक ही बात है। किन्तु मूल से एक भिन्न दो नहीं है, किन्तु एक होने पर भी, इस अचिन्त्य चिद्रूपा आत्मशक्ति के प्रभाव में, सब प्रकार अपने को देखने को मिलता है। भावरहित दर्शन और भावयुक्त दर्शन दोनों में पार्थक्य है। भाव-युक्त दर्शन में महाभावयुक्त दर्शन और खण्डभावयुक्त दर्शन में भी पार्थक्य है। इस अनुभूति की पृष्ठभूमि में ज्ञान और भक्ति का समन्वय समझना होगा। भाववर्जित ज्ञान शुष्क ज्ञान है—, भावयुक्त ज्ञान ही महाभाव के रस में परिणत होता है।

इसीलिए यदि आत्मस्वरूप एक और अभिन्न है तथापि "मैं तुम" भाव में निहित अनन्त प्रकार के रस का आस्वादन संभव है। उससे ऐश्वर्य का स्फुरण हो सकता है एवं दोनों के मध्यवर्ती अनन्त भाव सकल का भी स्फुरण हो सकता है। आत्मा जब शक्तिसम्पन्न होता है तब शक्ति की प्रकृति के अनुसार समग्र विश्व भी भासमान होता है। मायाशक्ति की दिशा से आलोचना करने पर समझा जा सकता है कि आत्मदर्शन में समग्र मायिक जगत् का भी दर्शन हो सकता है, क्योंकि जीवमात्र ही आत्मा की तटस्थ शक्ति है। विश्वजगत् जिस प्रकार आत्मा की वहिरंग शक्ति से उद्भूत है, उसी प्रकार जीवजगत् भी तटस्थ शक्ति से उद्भूत है। तद्रूप आत्मदर्शन के साथ-साथ अनन्त नित्य धाम के भी दर्शन हो सकते हैं। क्योंकि नित्यधाम सकल आत्मा का अन्तरंग है अथवा स्वरूपशक्ति के अन्तर्गत है। यह सकल नित्यधाम माया के अतीत है एवं काल के भी अतीत है, किन्तु नित्य होने पर भी यह सब आत्मशक्ति का ही विलास है। तभी यह शक्ति वहिरंगा शक्ति नहीं है, किन्तु स्वरूपभुता शक्ति है, जो सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी नाम से वर्णित होती रहती है। पूर्ण आत्मदर्शन होने पर कुछ भी छूट नहीं जाता अथवा उपेक्षित नहीं होता।

और एक बात। भाववर्जित आत्मदर्शन में महाभाव के स्फुरणरूप में लीलाधाम का दर्शन नहीं होता। मायायुक्त आत्मदर्शन में विश्व का दर्शन एवं अनन्त जीव का दर्शन होता है क्योंकि वहिरंगा शक्ति एवं तटस्थ शक्ति का अधिष्ठाता आत्मा है। तब भी एक बात है। आत्मदर्शन संकुचित आत्मा का एवं संकोचहीन आत्मा का भी हो सकता है। संकुचित आत्मदर्शन एक प्रकार विवेकमूलक है, विकासमय आत्मदर्शन योगमूलक है। अर्थात् द्रष्टा आत्मा अपने को जब माया से अथवा तटस्थ जीवशक्ति से पृथक् करके अन्तर्मुख में आत्मदर्शन करता है, तब वह मायाहीन एवं तटस्थ आत्महीन दर्शनरूप में परिगणित होता है। किन्तु जब शक्ति के साथ शक्तिमान् आत्मा का दर्शन करे तब आत्मदर्शन के साथ-साथ ही गौणभाव में होने पर भी मायाराज्य अथवा तटस्थ राज्य का भी दर्शन होता रहता है। विश्वव्यापार मायामूलक है, यह बहिर्मुखी शक्ति है। आत्मा की स्वरूपस्थिति है। यह ज्ञानमूलक है। इस ज्ञान के प्रभाव में कैवल्यादि विभिन्नावस्था में आत्मा के उपलब्धिगोचर होता है। इन दोनों स्थलों में कर्म और ज्ञान का जो स्थान है भाव का वह स्थान नहीं है। किन्तु कर्म और ज्ञान के समान भाव का भी तो एक राज्य है। उस भावराज्य के दर्शन एवं उसके साथ-साथ अनन्त भाव के भावक और रसिक भक्तवृन्द के दर्शन महाभाव का विकास न होने से नहीं होते। महाभाव ह्लादिनी शक्ति का ही व्यापार है। ह्लादिनी शक्ति एक दृष्टि से देखे जाने पर सन्धिनी और संवित्शक्ति का निर्यासस्वरूप है। सुतरां ह्लादिनीशक्ति समन्वित आत्मा का दर्शन आत्मा का पूर्ण दर्शन एक दृष्टि से मान सकते हैं। यही नित्यलीलाराज्य का स्वाभाविक उल्लास है। इससे रहित शक्तिविरहित रूप में

भी आत्मदर्शन हो सकता है। शक्ति विरहित बोलने पर समझना होगा कि अनन्त शक्ति आत्मा में अन्तर्लीन भाव में रहती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। इस प्रकार का आत्मदर्शन स्वयंप्रकाश कूटस्थ ब्रह्मसाक्षात्कार का दूसरा नाम है।

तुम्हारी सभी शंकाओं का समाधान इससे ही हो सकता है।

८

भगवद्-अनुग्रह में चित्शक्ति का और आत्मा का विकासक्रम किस प्रकार होता है ?

किसी निर्दिष्ट जीव के ऊपर भगवदनुग्रह कब और किस प्रकार होता है, यहां इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा रहा है। इसके मूल में आत्मा का अनादि-सिद्ध मल का परिपाक रह सकता है, अथवा आत्मा में विरुद्ध कर्म का साम्य भी रह सकता है, अथवा शुद्धा भगवत्शक्ति के स्वातन्त्र्य के विलासरूप में भी हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार से भी हो, उसके बाद आत्मा की अवस्था का परि-वर्तन किस प्रकार होता है, वही विवेच्य है। किन्तु इस विषय में आलोचना के पहले साधनमार्ग और योग मार्ग के भेद के सम्बन्ध में भेदज्ञान आवश्यक है। साधनमार्ग ही विवेकमार्ग है। चित् और अचित्, यह दोनों तत्व संसार-अवस्था में परस्पर अविविक्त अथवा जड़ित रूप में रहते हैं। आत्मा में अपने पौरुष के द्वारा एवं गुरु और शास्त्र के उपदेश की सहायता से इस अविवेक को दूर करना पड़ता है। यही साधना की अग्रगति का रहस्य है। देह, अन्तःकरण इत्यादि अचित् के अथवा जड़ के विभिन्न स्तर रहे हैं। प्रत्येक स्तर का चित् के साथ संसर्ग रहता है, किन्तु अविविक्तभाव में अथवा मिश्रभाव में। साधना का एकमात्र उद्देश्य आन्तर और बाह्य क्रियाकौशल में अचित् से चित् को पृथक् कर लेना है। इसी का नाम विवेक क्रिया है। देह से, इन्द्रिय से, प्राण, मन, बुद्धि और प्रकृति से चित् को पृथक् कर लेने के लिए कौशल है। इसके फलस्वरूप अचित् से चिदंश पृथक् हुआ विशुद्ध चिद्रूप में आत्मप्रकाश करता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप चित् अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है एवं अचित् चित् से पृथक् हुआ अव्यक्त हो जाता है। क्योंकि चित् का आलोक न पाने से अचित् का प्रकाशन किस प्रकार हो सकता है ! किन्तु ध्यान रहे कि चित् शुद्ध होने पर भी एवं प्रकृति से चिरमुक्त होने पर भी पुरुष स्वरूप में स्थित होने पर भी जीव को और अपने को 'मैं' कहकर पहचान नहीं सकता। अविवेक अवस्था में अस्मिता रूप में 'मैं' ज्ञान अवश्य ही था, सम्प्रज्ञात समाधि के परिसमाप्तिकाल में उपलब्धिगोचर होता रहता है। वही "मैं" ज्ञान के

साथ खण्ड ऐश्वर्य जड़ित रहता है। विशुद्ध ऐश्वर्य भी नहीं है एवं विशुद्ध आत्म-स्वरूप का ज्ञान भी नहीं है। किन्तु विवेक ख्याति के परिणाम में अचित् प्रकृति से पृथक्कृतभाव में जो चित्सत्ता का प्रकाश होता है वह केवल अवस्थापन्न होने पर भी आत्मा का स्वरूपज्ञान नहीं है। इस अवस्था में प्रकृति का सम्बन्ध काटा जाता है एवं अविवेकरूप अविद्या भी काटी जाती है। लेकिन इसके बाद अथवा इसके फलस्वरूप जिस प्रकाश का उदय होता है वह प्रकाश स्वरूप होते हुए भी अपने को प्रकाशरूप में पहचान नहीं सकता। जो प्रकाश आत्मा स्वयं को मैं रूप में पहचान नहीं सकता वह प्रकाश अनन्त अथवा अबाधित होते हुए भी पूर्ण अहं रूप में भगवत्स्वरूप में उसकी परिणति नहीं हो सकती। अहन्तारूपी चित्शक्ति का उन्मेष उसमें नहीं है। उसकी पूर्णता तो दूर की बात है। केवल पुरुष स्थूलादि देह से मुक्त होने पर भी एवं जन्म मृत्यु के चक्र से अतीत होने पर भी पूर्णत्व लाभ के पथ में अग्रसर नहीं हो सकता। इसके लिए प्रारंभ में ही भगवत्कृपा की आवश्यकता रहती है। यह कृपा शुद्धविद्या के रूप में जीवात्मा को प्राप्त होती है। इस कृपाप्राप्ति के बाद से ही योग का पथ आरम्भ होता है। योग बोलने से यहाँ पातञ्जल योग का ख्याल नहीं करो, क्योंकि पातञ्जल योग में योग का आभास रहने पर भी वह साधन मार्ग है उसमें संदेह नहीं। यद्यपि पातञ्जल योग में नित्यसिद्ध परमेश्वर को ही गुरुरूप में ग्रहण किया हुआ है, तथापि उनके साथ तादात्म्य लाभ का क्रम उसमें प्रदर्शित है नहीं। अवश्य यह सत्य है कि इस मार्ग में सांख्य के समान कैवल्य स्वीकृत होने पर भी नित्यसिद्ध परमेश्वर को स्पर्श करने का कौशल अवश्य है। इस विषय में जिज्ञासा रहने पर बाद में समझा दूंगा।

शुद्ध विद्या का उदय परमशिव अथवा श्री भगवान् की कृपा से होता है। यह विशुद्ध अहन्तारूप में उदित होती है। यही अहन्ता निर्मल है एवं देहादि कोई बाह्यसत्ता इसका अवलम्बन नहीं है। यह विशुद्ध चित् सत्ता को अवलम्बन करके ही उदित होती है। यह अहन्ता यद्यपि स्थूल-सूक्ष्म कारणरूपी किसी देह को अवलम्बन करके उदित नहीं होती है, तब भी यह निरालम्ब नहीं है। इसका भी आलम्बन है। इसका ही नाम बैन्दव देह अथवा अप्राकृत विशुद्धसत्त्वमय देह है जो सद्गुरु द्वारा दी हुई दीक्षा के समय जीव को प्राप्त होता है। यही बैन्दव देह ही चैतन्य का आधार है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति समवेतभाव में चैतन्य नाम से अभिहित है। ज्ञान शुद्ध और पूर्ण है किन्तु क्रिया क्रमशः विकासशील है। श्री भगवान् की कृपा से जब शुद्ध विद्या का उदय होता है तब उसमें पूर्ण अहंरूप ज्ञान पूर्ण ही रहता है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति क्रिया के द्वारा क्रमशः होती है। जिस-जिस प्रकार क्रिया का विकास होता है, ठीक उसी मात्रा में ही ज्ञान का स्फुरण होता है। ज्ञान के इस क्रमिक स्फुरण का तात्पर्य यही है कि क्रियाशक्ति के विकास के साथ-साथ अहन्ता के ज्ञान से इयन्ता का भाव स्खलित होता रहता है। यह

प्रक्रिया क्रमशः अग्रसर होने पर अहन्ता बढ़ती रहती है एवं उस अनुपात में इदन्ता कम होती रहती है। चरम अवस्था में अहन्ता पूर्ण हो जाती है एवं इदन्ता कुछ भी नहीं रहती। यही पूर्ण अहन्ता का आविर्भाव है एवं श्री भगवान् के स्वरूप का उन्मेष है। इस स्वरूप में जो बोध उदित होता है वह क्रिया के साथ नित्य जड़ित है। ज्ञान और क्रिया इस स्थल पर अभिन्न होके प्रकाशित होते हैं। इसका ही नाम पूर्णाहन्ता है। जो परमशिवभाव का नित्य सहचर है। इस स्थल पर भौतिक, प्राकृत और मायिक सत्ता का अस्तित्व नहीं रहता एवं चरम अवस्था में महामाया की भी सत्ता नहीं रहती। क्योंकि पूर्णत्व के अभिव्यक्तिस्थल में आत्मा बैन्दव शरीर का परित्याग करके शाक्तस्वरूप में अधिष्ठित होता है। बैन्दव स्वरूप महामायात्मक है, यह अचित् होते हुए भी विशुद्ध है किन्तु शक्तिस्वरूप चिदात्मक और चिन्मय है। यह स्वरूप महाशक्तिभावापन्न है। यह नित्य है क्योंकि पूर्णत्व में—शिवभाव में शक्तिभाव नित्य अनुस्यूत रहता है। इस स्थल में देह चिन्मय है, इन्द्रियादि चिन्मय है, सब ही चिदानन्द में परिपूर्ण है किन्तु तब भी यह शक्तिपद वाच्य है। शिव जिस प्रकार शक्तिहीन नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मा स्वरूपदेह से पृथक् नहीं रहता। इस स्थल पर देह और आत्मा का पृथग्भाव नहीं है, दोनों में समरस है। यदि रूपान्तर (Transformation) की दिशा में विचार करें तब देह का यही चरम विकास है। इसको चाहो तो सच्चिदानन्दमय देह बोल सकते हैं। यह देह होने पर भी आत्मा होती है आत्मा होने पर भी देह होता है, शिव होने पर भी शक्ति होती है, शक्ति होने पर भी शिव होता है। शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है। शाक्त इसे महाशक्ति कह के अथवा परासंवित् कह के धारण करते हैं। शैव इसे परम शिव कह के धारण करते हैं। वस्तु एक ही है।

इससे समझ सकते हो कि वास्तविक भगवदनुग्रह से आत्मा अपने में ही भगवत्स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। तब आत्मा अनुभव करती है कि एकमात्र मैं अनन्तरूप में, अनन्त नाम में, अनन्त भाव में हूँ। तब दूसरा कुछ नहीं रहता, फिर भी जगत् में सब ही रहता है। यह काल की अतीत अवस्था है। काल तब नहीं रहता। रहता है एकमात्र अखण्ड चैतन्य अहं रूप में, जिससे अनन्त विश्व निरन्तर स्फुरित होता रहता है।

विवेकमार्ग में यह स्थिति पाने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि उसके मूल में परमेश्वर के परम अनुग्रह के स्फुरण का अभाव है।

९

जीव स्वभावतः चिदणु हैं, किन्तु जब यह अणु आत्मा बैन्दवदेह लाभ करता है, तब क्या उसका अणुभाव काटा जाता है ?

वैष्णव मत में जीवात्मा चिदणुस्वरूप है यह सत्य है किन्तु आगम मत में जीव स्वरूपतः शुद्ध आत्मस्वरूप है। उसमें अणुत्व अथवा किसी प्रकार का संकोच नहीं है। आत्मा शुद्धावस्था में पंचकृत्यकारी है। तदनुसार वह स्वातन्त्र्यवश अपने को संकुचित करके जीवभाव ग्रहण करते हैं एवं अणुभाव में आत्मप्रकाश करते हैं। यह आत्मा की स्वाभाविक अवस्था नहीं है। आत्मा स्वभावतः संकोच-हीन है। अनन्त शक्ति उसमें एक-साथ प्रकाशमान है, लेकिन लीला के बहाने स्वातन्त्र्यवश जब वह अनुभाव ग्रहण करते हैं, तब से सृष्टि की सूचना होती है। अणुभाव ही आणवमल है। यह आत्मा की संकुचित अवस्था है। आत्मा के तीन-तीन प्रकार के आवरण का यही प्रधान अथवा मूल है। असंकुचित आत्मा का संकोच ग्रहण करना ही आत्मा का तिरोधान है। तिरोधान की विपरीत क्रिया का नाम अनुग्रह है। पूर्ण भाव में संकोच काटा जाना अनुग्रह का फल है। तिरोधान से अनुग्रह पर्यन्त जो समय है वही आत्मा का संसार में रहने का समय है। इसमें विभिन्न अवस्था है। उसमें शुद्ध संसार और अशुद्ध संसार दोनों ही अन्तर्गत हैं। आत्मा आणव आवरण में आवृत्त हुआ माया द्वारा आवृत्त है। माया ही भेद-बुद्धि का कारण है। आणव आवरण में आच्छन्न होने पर भी भेद-बुद्धि तब तक नहीं होती जब तक माया का आवरण नहीं होता। माया के आवरण के बाद कंचुकावृत्त हुई आत्मा पुरुष रूप में परिणत होती है। यह कार्ममल के सम्बन्ध का समय है। इन तीन प्रकार के मलों में आवृत्त हुआ एवं तदनुसार देह प्राप्त हुआ आत्मा प्रकृति के जगत् में संचरण करता रहता है। यह सब आत्मा देह और इन्द्रियादि-विशिष्ट एवं संसार चक्र में भ्रमण करते हुए जन्म-जन्मान्तर को ग्रहण करते रहते हैं। यह सब आत्मा तीन प्रकार के मल से विशिष्ट वाले 'सकल' आत्मा नाम से परिचित हैं। प्रलय अथवा संहार के समय देह और इन्द्रियादि सब ही ध्वंस हो जाते हैं। तब यह सब आत्मा कलाहीन हो जाती हैं। इनका नाम 'प्रलयाकल' आत्मा है। किन्तु जब विवेक-ज्ञान के प्रभाव में अथवा अन्य किसी कारण से प्रकृति से आत्मा पृथक् हो पड़े, तब भी आत्मा कलाहीन हो जाती है। यह सब आत्मा 'विज्ञानाकल' कहलाते हैं। दोनों प्रकार की आत्मा देहेन्द्रियहीन है। प्रलयाकल आत्मा, काल के प्रभाव में प्रलयावस्था में ज्ञान प्राप्त होने पर भी सामयिक अवस्था में कलाहीन हो जाती है। यह प्रलयाकल है। किन्तु विज्ञान अथवा विवेक-ज्ञान के फलस्वरूप आत्मा देहेन्द्रियशून्य होने पर विज्ञानाकल नाम

से परिचित होती है। यह तीन प्रकार की आत्मा ही पशु हैं। पशुत्व के कारण आणवमल की सत्ता है। आणवमल के नष्ट न होने से शिवत्व प्राप्त नहीं होता। शिव का अर्थ परमशिव अथवा परमेश्वर है। आणवमल काटने का एकमात्र उपाय परमेश्वर से कृपा अथवा अनुग्रहशक्ति का संचार है। इस अनुग्रह शक्ति को शुद्ध कहा जाता है। यही वास्तविक ज्ञान है, विवेकज्ञान प्रकृतज्ञान नहीं है। इस ज्ञान के अभाव में जीव में शिवभाव का उदय नहीं हो सकता। जिस ज्ञान के द्वारा कर्मनाश होता है, उससे भी मुक्ति होती है। किन्तु वह परामुक्ति नहीं है। जिस ज्ञान के द्वारा माया की निवृत्ति होती है उससे ही मुक्ति होती है। यह पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर मुक्ति है। किन्तु इससे भी परामुक्ति नहीं होती है। क्योंकि माया निवृत्त होने पर भी पशुत्व नहीं हटता। इस प्रकार मुक्त पुरुष को निरंजन पशु कहते हैं। क्योंकि इसमें आणवमल रहता है। एकमात्र आणवमल निवृत्ति पशुत्व का निवारक है एवं शिवत्व का अभिव्यञ्जक है।

जब भगवान् अथवा परमशिव के अनुग्रह से शुद्धविद्या का उदय होता है, तब से ही आणवमल की निवृत्ति का प्रारम्भ होता है। परिणामतः शिवभाव का भी प्रारम्भ होता है। प्रथम अवस्था में यह अपूर्ण रहता है क्योंकि अहन्ता का उदय होने पर भी उसमें इदन्ता का मिश्रण रहता है। ज्ञान की क्रम-शुद्धि से अहन्ता बढ़ती रहती है एवं इदन्ता कम होती रहती है। चरम अवस्था में अहन्ता ही रहती है, इदन्ता रहती ही नहीं। यही शिवावस्था है।

इस अवस्था में जाने की पहली सीढ़ी बैन्दव देह प्राप्ति है। सद्गुरु दीक्षा के समय इस बैन्दव देह को प्रदान करते हैं, इसीलिए वे पितृपदवाच्य हैं। इसकी प्राप्ति का नाम ही है जन्म। बैन्दव देह बिन्दु अथवा महामाया से रचित है। यह शुद्ध ज्योतिर्मय है। यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह से पृथक् है। यह अप्राकृत, विशुद्ध सत्वमय है। यह देह प्राप्त होने से ही अधिकार भोग और लय की सम्भावना रहती है। यह सब सिद्धपुरुष का व्यापार है। एवं अप्राकृत जगत् की बात है। बैन्दव देह प्राप्त होते ही मायिक देह नहीं रहता, ऐसी कोई बात नहीं है। मायिक देह के साथ कर्मादि का सम्बन्ध है। प्रारब्ध निवृत्त न होने से मायिक देह रहता है एवं उससे उत्पन्न भोगादि भी रहते हैं। किन्तु सद्गुरु की कृपा होने के साथ-साथ बैन्दव देह में अवस्थान होता है। बैन्दव देह का जरा-मृत्यु नहीं है एवं उसके साथ प्रारब्ध कर्म का संयोग नहीं है। वह केवल मलपाकादि निबन्धन है और गुरुकृपानिमित्तक है। इस देह में ऐश्वर्यादि भोग होता है एवं जीवोद्धार कार्य सम्पन्न होता है। यह अधिकारी देह है। इस देह द्वारा जीव, जीव होते हुए भी ईश्वर के समान कार्य कर सकता है। मायिक देह का अवसान प्रारब्ध कर्म के अवसान में होता रहता है। किन्तु बैन्दव देह का अवसान अधिकारवासना, भोग-वासना एवं लयवासना की निवृत्ति के ऊपर निर्भर करता है। बैन्दव देह का भाग

शुद्ध भोगपदवाच्य है तथापि यह भी भोग है। किन्तु शिवत्व प्राप्ति होने पर अथवा पूर्णता लाभ होने पर यह भी नहीं रहता।

१०

१. माया और अविद्या में क्या पार्थक्य है ?
२. कारणदेह एवं महाकारणदेह किसे कहते हैं ?

१. माया एवं अविद्या यह दोनों शब्द पारिभाषिक हैं। किसी उपनिषद् में यह दोनों शब्द एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। किन्तु शैवागम इत्यादि के मत में दोनों में पार्थक्य है। सिद्धान्तशैवमत में अचित् अथवा जड़ की तीन अवस्थाएँ हैं। एक स्थूल, एक सूक्ष्म एवं एक परम। अचित् की स्थूल अवस्था त्रिगुणात्मिका है। इसको ही प्रकृति कहते हैं। अचित् की दूसरी अवस्था इससे सूक्ष्म है, इसको माया कहते हैं। अचित् की परम शुद्ध अवस्था महामाया नाम से परिचित है। इसका दूसरा नाम बिन्दु है। प्रकृति मायिक विश्व का उपादान है। कर्मानुसार प्राकृतिक उपादान के मूल में देहेन्द्रियादि की प्राप्ति होती है। जिस ज्ञान से कर्म काटे जाएँ, उसके प्रभाव में देह इन्द्रियादि ग्रहण नहीं होते हैं। कर्तृत्वाभिमान के शून्य होते ही साक्षिभाव का उदय होता है, उसके फलस्वरूप कर्म नष्ट हो जाते हैं। एवं देहादि रचना बन्ध हो जाती है लेकिन भेद-ज्ञान तब भी रहता है। अभेद-ज्ञान न होने पर वह नष्ट नहीं होता। उसके फलस्वरूप बोलना होगा कि तब भी माया का प्रभाव रहता है। किन्तु अभेद-ज्ञान के उदय होने पर भी अर्थात् माया निवृत्त होने पर भी आत्मा में स्वातन्त्र्य का उदय नहीं होता है। यह स्वातन्त्र्य ही कर्तृत्व है, यही पूर्णाहन्ता है। किन्तु आणवमल के निवृत्त न होने पर, अभेद ज्ञान के उदय होने पर भी पूर्ण भगवत्ता की प्राप्ति के रास्ते में एक दृष्टि से देखे जाने पर क्रमशः तीन बाधक हैं—

१. कर्तृत्वाभिमान : इसके फलस्वरूप कर्मजाल का विकास होता है।
२. माया : इसके फलस्वरूप भेद-ज्ञान का उदय होता है।
३. आणवमल : इसके परिणामस्वरूप स्वातन्त्र्य का अभाव एवं आत्मसंकोच होता है।

यही पशुत्व का स्वरूप है। इसी क्रमानुसार ज्ञान का उत्कर्ष और अपकर्ष समझना होगा। प्रथम ज्ञान से कर्तृत्वाभिमान नष्ट हो जाता है, द्वितीय पूर्ण कर्तृत्व अथवा स्वातन्त्र्य का उदय होता है, अर्थात् खण्ड कर्तृत्व कर्म के भीतर के सुख-दुःख का कारण है। पूर्ण कर्तृत्व कर्म के भीतर के सुख-दुःख का कारण है।

पूर्ण कर्तृत्व अथवा स्वातन्त्र्य स्वरूप स्थिति का निदर्शन है। खण्ड कर्तृत्व की निवृत्ति के बाद एवं पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के पहले अभेद-ज्ञान का उदय होता है। इस अवस्था में माया निवृत्त हो जाती है, एवं एक अभेद-ज्ञान ही रहता है। यही अभेद-ज्ञान महाप्रकाश में स्थितिस्वरूप है। वहां भेद-दर्शन की स्थिति नहीं रहती। इस अद्वयस्वरूप में पूर्ण अहं ज्ञान होते ही स्वातन्त्र्य का उदय होता है एवं नित्य भगवद्भाव विकसित हो जाता है।

२. भारतीय दर्शनिक साधकगण देह के सम्बन्ध में दृष्टिकोण के भेद के अनुसार विभिन्न मत का पोषण करते हैं। न्याय-वैशेषिक आचार्यगण स्थूल देह को स्वीकार करते हैं किन्तु सूक्ष्मदेह को स्वीकार नहीं करते हैं। वे आतिवाहिक देह को स्वीकार करते हैं। सांख्याचार्यगण स्थूल देह के साथ सूक्ष्म देह भी स्वीकार करते हैं एवं लिंगतत्त्व भी स्वीकार करते हैं। नैयायिक एवं सांख्याचार्यगण कारण देह स्वीकार नहीं करते। वेदान्तिक (स्थूल और सूक्ष्म देह के अतिरिक्त) कारणदेह भी स्वीकार करते हैं। अन्नमय कोष उनका स्थूल देह है। प्राणमय कोष, मनोमय कोष एवं विज्ञानमय कोष उनका सूक्ष्म देह है। आनन्दमय कोष उनका कारणदेह है। कारणदेह माया स्वरूप है, इसलिए कारणदेह में ही उनके देह का पर्यवसान है। किन्तु जो त्रिगुणातीत अप्राकृत विशुद्ध सत्त्व स्वीकार करते हैं, वे मायातीत महाकारण शरीर स्वीकार करते हैं। कारणदेह का उपादान माया है, किन्तु महाकारण शरीर का उपादान माया नहीं है, महामाया अर्थात् विशुद्ध सत्त्व है। नैयायिक के मत में देह की पुनरावृत्ति रुकते ही मुक्ति होती है। सांख्य के मत में लिंगनिवृत्ति न होने तक मुक्ति नहीं होती किन्तु वेदान्त के मत में मायानिवृत्ति ही मुक्ति का एकमात्र कारण है। कारणदेह अशुद्ध है, महाकारणदेह निर्मल है। कारणदेह में त्रिगुण का खेल रहता है। जो अप्राकृत जगत् के नित्य भक्त हैं, उन का कारणदेह नहीं रहता किन्तु महाकारणदेह रहता है। यही महाकारणदेह की अप्राकृत सत्त्वमय देह है। त्रिगुणातीत नित्य भक्तगण इस देह से सम्पन्न हैं एवं अप्राकृत नित्यधाम और वहां पर भगवल्लीला का उपादानसमूह भी विशुद्धसत्व-मय है, वहां प्रकृति अथवा माया का खेल नहीं किन्तु शुद्ध सत्त्वगुण का खेल है। कारणदेह के बाद भी महाकारणदेह की आवश्यकता है, क्योंकि उससे रहित भगवद्भक्ति और नित्य ज्ञान का अनुशीलन चल नहीं सकता। कारण और महा-कारण में पार्थक्य यही है कि कारणदेह मलिन है एवं काम के अधीन है किन्तु महाकारणदेह निर्मल है एवं काल के क्षोभ के द्वारा अस्पृष्ट है। कैवल्यप्राप्ति के मार्ग में महाकारणदेह की आवश्यकता नहीं है किन्तु अप्राकृत जगत् में भक्ति साधना के लिए महाकारणदेह की आवश्यकता है।

११

स्वभाव का जागरण किस प्रकार होता है ?
सद्गुरु क्या यह स्वभाव जगा देते हैं ?

व्यक्तिगत भाव से किसी की समालोचना करना हमारा स्वभाविक धर्म नहीं है। विरुद्ध भाव लेकर शास्त्रालोचना कोई-कोई आवश्यक मानते हैं। किन्तु सत्य की जो विभिन्न दिशाएँ हैं, इस बात पर सत्य का पूर्ण साक्षात्कार किए बिना विश्वास नहीं किया जाता। वैष्णव दृष्टि द्वारा शैव सिद्धान्त का रहस्य उद्घाटित नहीं होता एवं शैव दृष्टि के द्वारा वैष्णव सिद्धान्त का रस ग्रहण नहीं होता। पूर्ण दृष्टि आवश्यक है। पूर्ण दृष्टि प्राप्त होने पर प्रत्येक प्रस्थान का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य अनुभव किया जाता है। केवल हमारे देश में ही नहीं अन्य देश में भी उच्चकोटि के साधक और सिद्ध पुरुष हुए हैं। उनकी दृष्टि भी उपेक्षा के योग्य नहीं है। लेकिन जो वास्तविक दृष्टि है वह दुर्भाग्यवश खूब अल्पसंख्यक लोग ही प्राप्त किए हुए हैं। इसका नाम समन्वय दृष्टि है। स्वभावानुगत चल सकने से किसी को भी कभी भी भ्रान्त पथ में पतित होना नहीं पड़ता। किन्तु स्वभावानुगत भाव में चलने के लिए सबसे पहले स्वभाव को जगाना होता है। संस्कार युक्त चित्तवृत्ति लेकर स्वभाव को जगाया नहीं जाता। संस्कार वर्जित होकर सत्य की दिशा में उन्मुख हुआ उसी ताक में रहने से स्वभाव अपने आप जग जाता है। स्वभाव अर्थात् अपना-अपना भाव। प्रत्येक जीव का एक अपना भाव है। जिनके प्रभाव में अन्य जीव होते हैं। उनका वैलक्षण्य देखने में प्रतीत होता है। जिससे स्वभाव जाग्रत् हो जाए, उसी के लिए साधन पथ में अग्रसर होना होता है। साधना का कार्य स्वभाव का आवरण खोलना है, सत्य का रूप प्रदर्शन करना नहीं। आवरण उन्मुक्त होने पर निज स्वभाव के अनुसार सत्य रूप फूट उठता है। इसमें मुख्यत: दो दिशाएँ हैं। एक दिशा तटस्थ उदासीन द्रष्टा की है एवं अन्य दिशा उन्मुक्त भाव की है। उन्मुक्त दिशा ज्ञान की दिशा है। इस ज्ञान की दिशा से अपना स्वभाव एवं उसका खेल अविकृत भाव में अपने निकट प्रकाशित होता है। दोनों क्षेत्र व्यक्तिगत अभिमान से वर्जित हैं। व्यक्तिगत अभिमान अपने पूर्वजन्म के संस्कार को आश्रय करके कार्य करता है। तटस्थ दृष्टि रहने से अपने जीवन में इसका प्रभाव पड़ नहीं सकता। पक्षान्तर में अपनी-अपनी भाव धारा में प्रवेश होने से गुरुजन अथवा शास्त्रादि से गन्तव्य पथ पर अग्रसर होने के लिए उपयोगी कोई शिक्षादि ग्रहण नहीं करनी होती है। क्योंकि जीवन के क्षेत्र में स्वभाव ही संचालक होने से साधक की क्रमिक अवस्था का विकास करता है। जब साधक गुरु कृपा से अपने पुरुषकार के फलस्वरूप स्वभाव को जगाने में समर्थ होता है,

तब वह निरापद् भूमि में स्थिति लाभ करता है। क्योंकि उसको बाहिर से (guidance) नहीं लेनी होती है। किन्तु प्रश्न यही है, स्वभाव के उपयोगी सत्य में प्रतिष्ठित चित्तशक्तिसम्पन्न गुरु कहाँ हैं ? इसीलिए गुरु प्राप्ति ही भावी साधक के पक्ष में सर्वप्रथम समस्या है। गुरु पथप्रदर्शक है। तभी पहले पथ-प्रदर्शक चाहिए। जब तक वह नहीं पाया जाए तब तक प्रत्येक के पक्ष में अपने-अपने अन्तर्यामी पुरुष की ओर लक्ष्य रखना उचित है। प्रत्येक के हृदय में श्रीभगवान् का अन्तर्यामी स्वरूप विराजित है। लेकिन इस स्वरूप के सम्बन्ध में कोई ज्ञान साधारण लोगों को नहीं है। चित् का अन्तर्मुख भाव लेकर इसका ही अन्वेषण करना है। यह अन्तर्यामी ही यथा समय बाह्य गुरु रूप में साधक के निकट आविर्भूत होता रहता है। अन्तर्यामी को पकड़ने के लिए किसी क्रिया कौशल का प्रयोजन नहीं है। शरणागत भाव लेकर, असहाय निरालम्ब दीन दुःखी के समान भीतर की दिशा में दृष्टि डाल सकने पर कुछ दिनों में ही उनका सन्धान पाया जाता है। किन्तु निष्ठा, सरलता और विश्वास प्रयोजन है। किन्तु सर्वत्र ही संस्कार का हाथ होने से अपने को बचाकर रखना होता है। यही अन्तर्यामी ही आन्तरिक गुरु है। इसके अनुग्रह से बाह्य गुरु की प्राप्ति होती है एवं बाह्य गुरु के अनुग्रह से गुरु का प्रयोजन होने से हमेशा के लिए निष्कृति लाभ होता है। क्योंकि स्वभाव के जगने से जीव सत्ता का संचालक होने से, अन्तर और बाह्य गुरु का प्रयोजन ही नहीं होता। स्वभाव ही तब सब विषयों में निर्देश प्रदान करता है। इस अवस्था में साधक की अन्तःस्थिति का परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। क्योंकि स्वभाव के उदय के साथ-साथ ज्ञान का उन्मेष होता है एवं उस ज्ञान के आलोक में ज्ञानराज्य में प्रेमभूमि तक साधक की अग्रगति सम्पन्न होती है। उसके बाद उदय अवस्था में प्रविष्ट हुआ भावुक साधक रसिक रूप में आत्मप्रकाश करता है। क्योंकि रसिक से भिन्न उस महारस का आस्वादन कौन करे ? तब इस अनन्त जगद्रूपी विश्व- नाट्य की विभिन्न भूमिका ग्रहण करके अभिन्नता भी वही है। तटस्थ द्रष्टा रूप प्रेक्षक भी वही है। प्रेक्षक रस का आस्वादन करता है। इस अपूर्व विश्व नाट्य का अभिनय और रसास्वाद अनन्त रूप में सम्पन्न करने के बाद अद्वय परिस्थिति में आश्रय लाभ करता है।

प्रत्येक मनुष्य का ही एक विशिष्ट स्थान है जिसका अनुसरण करने से इस विराट विश्व-नाट्य में उसका व्यक्तिगत अभिनय निरूपित होता है। अभिनेता भी 'मैं', अभिनय का द्रष्टा भी 'मैं'। पुनः सत्य बात बोले जाने पर रंगमंच भी 'मैं' एवं इस लीला-नाट्य का सूत्रधार भी 'मैं'। 'मैं' यह बात सत्य है, फिर भी द्रष्टा और अभिनेता खण्ड नहीं होने से यह 'मैं' भी वही अखण्ड पूर्ण मैं हूँ।

बहुत बात बोलने के लिए है। समय होने पर अनन्तर कहूँगा। तुम्हारे संशय के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना करने की इच्छा है। पृथ्वी के जीवन में

एक विराट सुयोग लाभ का समय अति निकटवर्ती है, यही महापुरुष लोग बोलते हैं। श्रद्धा और उन्मुख भाव छोड़ो नहीं। विश्वास की खूंटी पकड़ के उसी अनजान प्रेममय महासत्ता की ओर ताकते रहो। काल पूर्ण हो जाने पर अपने स्थान को प्राप्त कर सकते हो।

किसी विषय में चिन्ता नहीं करो। जो हमको पकड़ कर हैं, सभी उनकी दृष्टि के अन्तर्गत हैं।

१२

सद्गुरु के निकट दीक्षा में जो मन्त्र प्राप्त होता है उसका स्वरूप क्या है? अथवा पुनः अधिकारीवर्ग के अन्तर्गत जो मन्त्र समूह विद्यमान है उसका स्वरूप क्या है? अथवा इन दोनों का सम्बन्ध क्या है?

अधिकारी मण्डल में जो सब विभाग हैं उनमें मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्र-महेश्वर इन तीन की बात बोली है। तत्त्व की दृष्टि से मन्त्र शुद्ध विद्या के अन्तर्गत है, मन्त्रेश्वर ईश्वर तत्त्व के, मन्त्रमहेश्वर सदाशिव तत्त्व के अन्तर्गत है। मन्त्र को समझने से पहले श्रीभमवान् की अनुग्रह क्रिया के रहस्य को समझने की चेष्टा करो। मूल अनुग्रहकर्ता साक्षात् परमेश्वर है। यह अनुग्रह क्रिया उनका एक रूप होने से युक्त है। इस रूप को समझने के लिए वह दो भाग में विभक्त करके समझना होता है। एक कर्त्ता का रूप है, अन्य कारण का रूप है। मन्त्र शब्दात्मक है। यह मन्त्र भगवान् के अनुग्रह का 'करण' है। इस अनुग्रह क्रिया के जो कर्ता हैं वह मन्त्र के अधिष्ठाता अथवा मन्त्रेश्वर हैं। इस अनुग्रह क्रिया में कर्ता की आवश्यकता है, करण की भी आवश्यकता है। ध्यान दो, राम लेखनी द्वारा पत्र लिख रहा है। यहाँ राम कर्ता है, लेखनी करण है, क्रिया लिखना है। तद्रूप-परमेश्वर के जीवोद्धार के कार्य में भी दो सत्ताएं कार्य करती हैं। एक अनुग्रह कार्य है। जो यह कार्य कार्यरूप में करते हैं, मन्त्रेश्वर कहते हैं। कर्त्ता जिस करण के द्वारा करते हैं, उसे मन्त्र कहते हैं। सुतरां परमेश्वर के प्रतिनिधि स्वरूप ईश्वर ही अनुग्रह कार्य का कर्त्ता एवं मन्त्र इसी का करण है। अनुग्रह कार्य में सृष्टि का व्यापार निहित रहता है। अनुग्रह दो प्रकार का है। एक मुख्य दूसरा गौण। मुख्य सृष्टि का कर्त्ता परमेश्वर स्वयं है। मुख्य सृष्टि के फलस्वरूप सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध-विद्या आदि का उदय होता है। अवश्य शिव और शक्ति भी तद्रूप हैं। यही परमेश्वर की मुख्य सृष्टि है। यह सृष्टि अधिकारी वर्ग की सृष्टि है। यही शुद्ध सृष्टि है। इस सृष्टि का कर्त्ता परमेश्वर स्वयं है। इस सृष्टि का करण बिन्दु

अथवा महामाया है। परमेश्वर निर्विकल्पक चित्शक्ति के द्वारा बिन्दु शुद्ध करके बिन्दु के द्वारा इस दिशा में रचना करते हैं, इसका बैन्दव देह है। अवश्य तत्त्वरूपी शिवशक्ति की बात पृथक् है। यह जो अधिकारी वर्ग की सृष्टि है, इसमें कर्त्ता भी है, करण भी है। कर्त्ता मन्त्रेश्वर अथवा मन्त्रमहेश्वर है अर्थात् ईश्वर अथवा सदा शिव है, एवं करण मन्त्र अर्थात् शुद्ध विद्या है। ईश्वर जब अधिकार कार्य निर्वाह करते हैं, तब शुद्ध विद्या को आश्रय करके एवं माया को आश्रय करके वैसा करते रहते हैं। ईश्वर के सविकल्पक ज्ञान के द्वारा माया शुद्ध होती है, एवं उसके फलस्वरूप मायिक सृष्टि का उदय होता है। सदाशिव मन्त्रमहेश्वर के रूप में शुद्ध विद्या को आश्रय करके कार्य करते हैं, उसके फलस्वरूप जीव का अनुग्रहकृत्य सम्पन्न होता है। जिसको ईश्वर कहते हैं, वह भगवान् है अथवा परमेश्वर की तिरोधान शक्ति की मूर्ति हैं। जिसको सदाशिव कहते हैं, वह उनकी अनुग्रह शक्ति की मूर्ति है। तिरोधान शक्ति की दिशा में मायिक सृष्टि का उदय होता है, एवं इसका कर्त्ता ईश्वर है। अनुग्रह शक्ति की दिशा में बैन्दव सृष्टि का उदय होता है एवं इसका कर्त्ता सदाशिब है, जिसके फलस्वरूप मायिक जीव को बैन्दव देह की प्राप्ति होती है। तिरोधान और अनुग्रह, दोनों कृत्य परमेश्वर के ही हैं। तब भी ध्यान में रखना होगा कि तिरोधान अथवा आत्म-संकोच अनुग्रह की ही पूर्वावस्था है। जो निग्रहशक्ति के अधीन हो चुका है, उसको यथासमय अनुग्रहशक्ति पानी ही होगी।

परमेश्वर विश्व-व्यापार के पहले अपने को विभक्त करके शिव और शक्ति रूप में प्रकट होते हैं। परमेश्वर अर्थात् परमशिव तत्त्वातीत हैं, किन्तु शिव और शक्ति तत्त्वस्वरूप हैं। शिव भाव में बोध की पूर्णता है, किन्तु उसमें स्वातन्त्र्य अथवा शक्ति नहीं है। भक्तिभाव में स्वातन्त्र्य रहता है, उसमें बोध अथवा चिद्-भाव नहीं है। दोनों ही अपूर्ण हैं। क्योंकि इस अवस्था में सामरस्य भङ्ग हुआ है। सृष्टि, स्थिति और संहार का खेल शक्ति का आत्मप्रकाश अथवा आत्मविकास है। अनुग्रह व्यापार शिव का आत्मप्रकाश है। परमेश्वर में दोनों का पूर्णात्मप्रकाश है।

मन्त्र शिवमात्र नहीं है, क्योंकि शब्द के साथ अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। जो शब्द असिद्ध अवस्था में वागिन्द्रिय में शब्द रूप में प्रतीत होता है, वही शब्द ही सिद्धावस्था में अर्थरूप में आत्मप्रकाश करता है। इसका ही नाम देवता है। अर्थात् देवता शब्दात्मक है, यह भी सत्य है एवं अभिव्यक्त होने पर अर्थात्मक है, यह भी सत्य है। वाचक शब्द सिद्धावस्था में वाच्य अर्थ रूप में स्फुरित होता है। इसलिए मन्त्र प्राप्ति होने पर देह शुद्धि होती है, क्योंकि मायिक देह के साथ बैन्दव देह का भी स्फुरण होता रहता है। मन्त्र चैतन्य स्वरूप होने पर भी अपने आप किसी साधक में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वह करणमात्र

है। मन्त्र के जो प्रयोगकर्त्ता हैं, वे मन्त्र के द्वारा जीव में अनुग्रह सम्पादन करते हैं; किन्तु मन्त्र अपने से अन्य के द्वारा प्रयुक्त न होने से साधक का कल्याण साधन नहीं कर सकता है।

१३

मन्त्र अथवा मन्त्रेश्वर कौन प्राप्त करते हैं ?

आत्मा एक ही प्रकार है। कोई आत्मा मन्त्र पद पर गृहीत होता है एवं कोई मन्त्रेश्वर पद पर, इसका नियामक क्या है? स्मरण रखना होगा कि यह प्रलय के बाद की अवस्था है। क्योंकि सृष्टि के समय मन्त्र अथवा मन्त्रेश्वर का आविर्भाव नहीं होता है। प्रलय के बाद सब आत्माएं देह और इन्द्रियादि शून्य हुए 'अकल' अवस्था को प्राप्त होते हैं। उनमें जिनका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ है एवं कर्मक्षय सम्पन्न नहीं हुआ है, उनको ही अभिनव सृष्टि में अवशिष्ट भोग के निमित्त देह प्राप्त होते हैं। इनको 'प्रलयाकल' जीव बोलते हैं। किन्तु जिन सकल आत्मा का विवेक-ज्ञान के फलस्वरूप कर्मक्षय हुआ है एवं अचित् अथवा प्रकृति से अलग हुए हैं, वे ही 'शुद्धजीव' अर्थात् 'विज्ञानाकल' हैं। यह भी अकल हैं। इनमें दो श्रेणियाँ हैं। किसी-किसी का मलपरिपक्व हुआ है एवं किसी-किसी का नहीं है। जिनका मलपरिपाक कम हुआ है, वह एक कल्प तक सुषुप्तवत् अवस्था में पड़े रहते हैं। जिनका मल कुछ अधिक परिपाक को प्राप्त हुआ है उनके ऊपर श्री भगवान् का शक्तिपात होता है, जिसके फलस्वरूप वे श्रीभगवान् के विश्वशासन कार्य में अधिकारी रूप में गृहीत होते हैं। इनमें जिनका मल अपेक्षाकृत कम परिपक्व है, उनका नाम 'मन्त्र' है। जिनका मल अधिक परिपक्व है, उनका नाम 'मन्त्रेश्वर' है। मन्त्र भगवदनुग्रह का कारणस्वरूप है एवं मन्त्रेश्वर भगवदनुग्रह का कर्त्ता है। मन्त्रेश्वर भगवान् का प्रतिनिधि है। यह भी ध्यान में रखना होगा कि इस अवस्था में भी मल है। तथापि वह आणव मल अथवा पशुत्वसम्पादक मल नहीं है। इसका नाम अधिकार मल है। अधिकार अथवा भोगादि के द्वारा यह मल काटा जाता है। मन्त्र असंख्य है तब भी परिमित कहा जा सकता है। मन्त्रेश्वर संख्या में आठ हैं। मलपाक के तारतम्य के अनुसार इनमें उत्कर्षापकर्ष होता है। तीव्र संवेग के फलस्वरूप यदि किसी का भी मलपाक अधिक हो जाए, वैसा होने पर वह निज स्थान में ही शिवत्व लाभ करता है नहीं तो निम्न स्तर से ऊर्ध्व स्तर में लिया जाता है यदि ऊर्ध्व स्तर खाली रहे। मन्त्र का यही नियम है, मन्त्रेश्वर का भी यही नियम है। मन्त्र में यदि कोई स्थान खाली होता है, वैसा

होने पर मल की परिपक्वता के अनुसार विज्ञानाकल से यह स्थान पूर्ण होता रहता है।

१४

परमात्मभाव में पूर्णताप्राप्त साधक भगवद्भाव में प्रवेश कर सकता है कि नहीं, प्रवेश कर सकने पर कब और किस प्रकार ?

परमात्मभाव में जो स्थिति लाभ किए हैं, वे मायातीत हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। माया और पुरुष का भेदज्ञान पूर्ण रूप में प्राप्त न होने पर यह संभव नहीं है। यह सब साधक कैवल्य को प्राप्त हुए मायातीत स्थिति को प्राप्त करते हैं। यह सब साधक का आत्मज्ञान—'आत्मा विशुद्ध चित्स्वरूप है' इसमें ही पर्यवसन्न होता है। किन्तु आत्मा अखण्ड चित्स्वरूप हुआ भी आनन्दस्वरूप है, यह उनके बोध में नहीं आता। ये विदेहस्थिति प्राप्त करते हैं। देह, इन्द्रिय, मन से ये मुक्त हैं। साधारणतः इन्हें कोई अभावबोध नहीं है। क्योंकि प्राकृतिक अभाव उदित होने का कोई कारण नहीं है। वे सर्वत्र, अखण्ड प्रकाश व्याप्त रहता है, देख पाते हैं। किन्तु वे, प्रकाश में जो आनन्द लुप्त रहता है, समझ नहीं सकते। इनका धाम कैवल्यधाम है एवं यह कैवल्य खण्डकैवल्य है। जब कोई भगवद्धाम का आत्मा इनके दृष्टिगोचर होता है, तो यह विचलित हो उठते हैं। यह आत्मा भक्तकोटि के अन्तर्गत है, क्योंकि भगवद्धाम में भक्त से भिन्न किसी का भी स्थान नहीं है। सिद्ध भक्त हो अथवा साधक भक्त हों, कदाचित् किसी का भी साक्षात् होने पर यह सब केवली आत्मा है—अवश्य जो भाग्यवान् हैं, असाधारण व्याकुलता प्राप्त करते हैं। ये अर्थात् केवली आत्मसमूह इतने दिन तक अपने से अपने में सन्तुष्ट थे, क्योंकि जागतिक सब अभाव उनका मिट गया था, किन्तु भगवद्धाम से समागत अथवा गमनशील भक्त आत्मा के देखने के साथ-साथ विराट अभावबोध उनका जाग उठता है। इसका कारण यही है कि भक्त के दर्शन में केवली आत्मसत्ता में निहित एक विराट अभावबोध जाग उठता है। भक्ति ह्लादिनीशक्ति के स्फुरण से होती है, तभी यह केवली आत्मा के हृदय को स्पर्श करती है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा के अन्तर् के अन्तर्तम में भक्ति का बीज निहित है। इतने दिन यह उद्बुद्ध नहीं हुई। इतने दिन तक इस ह्लादिनी शक्ति की महिमा वह समझ नहीं सकता। इस बार केवली में भी वह आस्वादन का अभाव जाग उठता है, क्योंकि ह्लादिनी शक्ति सुप्तभाव में उसमें भी है। उद्बोधक के अभाव में वह इतने दिन जाग्रत् नहीं हुई। वास्तविक भक्त के दर्शन में सुप्त भक्ति

भाव उद्‌बुद्ध होता है एवं आत्मा भक्ति के आस्वादन के लिए भगवद्‌धाम में प्रवेश करता है। कैवल्य धाम में जिस प्रकार आकार नहीं रहता, भगवद्‌धाम में उसी प्रकार निराकार नहीं रहता। इस केवली आत्मा को तब ह्लादिनी शक्ति से उत्पन्न भावदेह प्राप्त होता है एवं भगवद्‌धाम में प्रविष्ट हुआ वह निर्दिष्ट स्थान पर अधिकार करता है।

इससे समझा जाता है कि भगवद्‌धाम में प्रत्येक आत्मा का एक निर्दिष्ट स्थान है। अन्तर्निहित भाव के विकास होने पर उसी स्थान पर वह अधिकार करता है। केवली प्रत्येक आत्मा ही है, जिनको यह सुयोग प्राप्त होता है उनकी कोई बात नहीं। जिसके सुप्तभाव के उद्‌बोध का काल समागत हुआ है उसका ही यह रूप होता है, समयान्तर में अन्य का वह रूप हो सकता है। भाव जाग्रत् होने पर आत्मा कभी भी विदेह नहीं रह सकता, वह अपने भाव के अनुसार देह ग्रहण करता है।

१५

तुमने जिज्ञासा की है कि किसी महापुरुष की कृपा से क्या कहीं भी परम प्राप्ति अर्थात् ज्ञान, मुक्ति, भगवत्सायुज्य इत्यादि हो सकते हैं अथवा महापुरुष केवल लक्ष्य, पथ, साधना इत्यादि विषय में निर्देश और सहायता कर सकते हैं, पाकर प्रत्येक के निज की साधना, भक्ति, योग्यता के ऊपर निर्भर करता है। एक जन ने कहा, भगवान् बुद्ध मृत्युशय्या पर आनन्द को बोले थे कि वे कृपा करके किसी को भी परम प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं हैं, उसकी प्राप्ति की योग्यता आनन्द को साधना के द्वारा प्राप्त करनी होगी। इतने दिन "कृपा हि केवलम्" जान के बैठा था—युक्तिग्राह्य भिन्न मत के लिए थोड़ा-सा संशय उत्पन्न हुआ हैं।

तुम्हारा प्रश्न सुनकर आनन्दित हुआ। तुम जो साधना के मार्ग के विषय में इतनी चिन्ता किए हो वह आनन्द का कारण है। किन्तु स्मरण रखो कि साधन पथ में दोनों का ही स्थान है—जिसको व्यक्तिगत योग्यता बोलते हैं वह भी जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार भगवत्कृपा भी आवश्यक है। इस विषय में विशेष आलोचना के पहले बुद्धदेव की बात ही कहता हूँ। बुद्धदेव जिसके ऊपर अनुग्रह करते, उसे केवल व्यक्तिगत अहङ्कारमूलक साधना के ऊपर निर्भर करने को नहीं कहते। वे जानते थे कि इस विश्व में विश्व के बाहिर जाने का अर्थात् विश्वातीत अवस्था प्राप्त करने का कौशल रह गया है। जिस प्रकार स्थूल जगत् में मध्या-

कर्षण सर्वत्र रहने के कारण सकल वस्तु स्वभावतः अधोगमनशील है, उसी प्रकार इस जगत् के ही अन्तस्तल में ऊर्ध्वगति की एक एक नित्य धारा रही है। वह अत्यन्त गुप्त है। इस धारा में गिरने से मध्याकर्षण की क्रिया नहीं रहती। अधोगति अथवा चांचल्यरोध हो जाता है एवं इस स्रोत में साधक को ऊर्ध्व दिशा में आकर्षण करके लिया जाता हैं। यह अत्यन्त गुप्त स्रोत है। हमारे देश में सहजिया, बाउल, महायानी बौद्धगण, जैन सम्प्रदाय, सभी इस स्रोत के सम्बन्ध में जानते थे।

मनुष्य जब अपने को विश्लेषण करके देखने की चेष्टा करे, तो वह अनुभव कर सकता है कि उसमें आवर्तस्थल में तीन अवस्थाएँ कार्य करती हैं, जिनके नाम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति हैं। जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियादि के द्वारा रूप-रसादिमय बहिर्जगत् का ज्ञान होता रहता है। यह जाग्रत् अवस्था है। इस अवस्था में विराट स्थूल जगत् मनुष्य के प्रत्यक्षगोचर होता रहता है। लेकिन यह स्थायी नहीं है। जब इन्द्रियों का निरोध हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य विषय का ज्ञान नहीं रहता। मनुष्य स्वप्नराज्य में प्रविष्ट होता है। किन्तु बाह्य रूपरसादि न रहने पर भी, स्वप्नराज्य में भी मनोमय रूपरसादि स्वप्नजगत् के रूप में परिदृष्ट होता है। बाह्य जाग्रत् अवस्था भूताकाश के अन्तर्गत थी। स्वप्नजगत् मनोमय चित्ताकाश के अन्तर्गत है। इसके बाद आवर्तनक्रम में सुषुप्ति अवस्था का उदय होता है। तब भूताकाशस्थित स्थूल भौतिक जगत् नहीं रहता एवं चित्ताकाशस्थित सूक्ष्म मनोमय जगत् नहीं रहता। नाड़ी का उपसंहार होता है—ज्ञानहीन सुषुप्ति अवस्था का उदय होता है। यह भूताकाश और चित्ताकाश के बाद की अवस्था है। इस अवस्था में अर्थात् सुषुप्ति में नाड़ी की क्रिया नहीं रहती एवं ज्ञान भी नहीं रहता। घोर अज्ञान अवस्था में हृदय प्रदेश में किंचित् काल के लिए विश्राम करने के उद्देश्य से जीव सोकर रहता है। तदनन्तर जिसे दार्शनिकरण जीवनयोनिप्रयत्न कहते हैं, उसके द्वारा उद्बुद्ध हुआ जीव जाग उठता है एवं पुनः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति क्रम में चक्र का आवर्तन होता है। इसका नाम संसार चक्र है। यह पुनः-पुनः होता रहता है। इस अवस्था में अनूनमयकोष, प्राणमयकोष और मनोमयकोष क्रिया करते हैं एवं मनुष्य देह में इड़ा और पिङ्गला नाड़ी की वक्रगति चलती रहती है। मध्यवर्ती सुषुम्ना की सरलगति तब रहने पर भी अनुभूत नहीं होती। किन्तु जब महापुरुष की कृपा से ज्ञान का उदय होता है तब यथासमय वक्रनाड़ी स्तम्भित हो जाती है, तब सरल सुषुम्ना नाड़ी की ऊर्ध्वमुखी क्रिया चलती रहती है। तब मध्याकर्षण की क्रिया नहीं रहती एव चित्त की अधोगति स्तम्भित हो जाती है। अवश्य यह सामयिक-भाव में होती है, परे क्रमशः स्थायी होती है। किन्तु जब यह ऊर्ध्वगति क्रियाशील होती है तब वायु की क्रिया स्तम्भित होती है, श्वास-प्रश्वास नहीं रहता एवं मन

भी देह की स्मृति की रक्षा नहीं कर सकता। जिसको देहात्मभाव बोलते हैं एवं जो सांसारिक जीवन का मूलभाव है, वह कुछ क्षण के लिए काटा जाता है। यह देहात्मबोध शून्य होने से जीव सुषुम्ना मार्ग में क्रमशः परमानंद का अनुभव करते-करते ऊर्ध्व दिशा में उठता है। इसको ही योगी-गण चिदाकाश में गति का उपक्रम कहकर वर्णन करते हैं। वेदान्त की परिभाषा में यह मनोमय कोष के परवर्ती विज्ञानमय कोष के अवस्था की बात है। आनन्दमय कोष इसके भी बाद की अवस्था है। यह जो ऊर्ध्वमुखी स्रोत है यह अत्यन्त गुप्त है। इस स्रोत में जीव को ढाल न सकने में जीव के पक्ष में मध्याकर्षण से रक्षा पाना कठिन है एवं ऊर्ध्वगति का होना सम्भव नहीं है। इसको हमारे प्राचीन मरमिया mystic गण बाउल, सहजिया, बौद्ध माध्यमिक इत्यादि साधकगण 'उजान धारा' कहकर वर्णन करते हैं। बुद्धदेव जिस पर कृपा करते थे, उसको इसी ऊर्ध्व स्रोत के साथ मिला देते थे। इसीलिए भगवान् बुद्ध के कृपा-प्राप्त पुरुष को बोलते हैं 'स्रोतापन्न' अर्थात् ऊर्ध्वमुखी स्रोत में जो चलना आरम्भ करते हैं। यही स्रोत ही उसे ऊपर की दिशा में ले जाता है। इसको कृपा बोलते हैं। लेकिन इसके साथ उसको भी साधना करनी होती है—वही पुरुषकार है। अच्छी प्रकार से जो यह सम्पन्न कर सकता है, वह अन्य मध्याकर्षण द्वारा आकृष्ट नहीं होता, लेकिन अधिकांश में एक बार पूर्वाकर्षण अनुभव करने के लिए बाधित होता है। इस अवस्था को 'सकृदागामी' बोलते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव तब ऊर्ध्व में उत्थित हुआ भी पूर्व संस्कार के वश में एक बार गिर पड़ता है, अर्थात् जन्म ग्रहण करता है। इसके बाद पुनः वही स्रोत उसको खींचकर ले जाता है। तब की अवस्था का नाम 'अनागामी' है। यह सब लोग जीवमुक्ति प्राप्त न करने पर भी अधोगामी मध्याकर्षण से नित्यमुक्त हैं। इसके बाद पूर्णज्ञान का उदय होता है। उस अवस्था का नाम बौद्धगण 'अर्हत' बोलते हैं। यह हमारी जीवन्मुक्ति का दूसरा नाम है। इससे समझ सकते हैं कि केवलमात्र पुरुषकार द्वारा 'अर्हत' अवस्था को नहीं पाया जाता। पुरुषकार का प्रयोजन है लेकिन उसके मूल में है 'महापुरुष की कृपा' अर्थात् ऊर्ध्व स्रोत में गिरना। सुतरां बुद्धदेव जो कहे थे उसे समझना होगा कि कृपा और पुरुषकार के समन्वय की दिशा में दृष्टि रखनी होगी। साधारण मनुष्य कृपा करने में समर्थ नहीं है क्योंकि वे प्रकृति के ऊर्ध्वमुखी स्रोत में जीव को खींचने में समर्थ नहीं हैं। इस ऊर्ध्वमुखी स्रोत में पड़ने पर भी साधना करनी होती है। क्योंकि वैसा न कर सकने पर सकृदागामी से अनागामी में नहीं पहुँचा जाता।

यह तो हुई बुद्धदेव की बात, अन्यान्य महापुरुषों में भी वही पुनरावर्तन देखा जाता है। अब यह प्रश्न समझने की चेष्टा करो कि कृपा और पुरुषकार में प्राधान्य कहाँ है। गीता पाठ करने पर इस प्रश्न का समाधान होता है। अर्जुन युद्धक्षेत्र में अपने कर्त्तव्य से बिमुख हुए पड़े थे। उन्होंने युद्ध न करने का संकल्प

मन ही मन किया था। लेकिन श्रीभगवान् के निकट शरणागत हुआ, उनके उपदेश प्रार्थी होने के फलस्वरूप श्रीभगवान् ने उनके पथ का निर्देश किया। श्रीभगवान् ने कहा कि अब जो तुम्हारी अवस्था है, उससे तुम्हारे पक्ष में धर्मयुद्ध से विकृत होना उचित नहीं। इसी उपलक्ष्य में उन्होंने क्रमशः उपदेश देना प्रारम्भ किया। पहले ही कहा कि उन्हें कर्मत्याग नहीं करना है। उनकी जो अवस्था थी उसमें कर्मत्याग अयौक्तिक था क्योंकि उनका कर्तृत्वाभिमान रहा था। उनको कर्म करना होगा लेकिन कर्म निष्काम करके करना होगा अर्थात् फलाकांक्षा वर्जन करके कर्म करना आवश्यक है। कर्तृत्वाभिमान रहने तक कर्मत्याग सम्भव नहीं है। फला-कांक्षा करने से चित्तशुद्धि होती है एवं यह फल समस्त विश्व का हित साधन करते हैं। चित्तशुद्धि होने के बाद साधक का कर्तृत्वाभिमान शिथिल हो जाता है, तब वह देख पाता है कि वह कर्त्ता नहीं। प्रकृति के गुणों में उसके द्वारा कर्म होते रहे। इसके बाद क्रमशः अग्रसर होते-होते देख पाता है कि प्रकृति के गुण में कर्म है तथापि प्रकृति तो जड़ है, उस की प्रेरणा शक्ति कहाँ है? तब देख पाता है कि प्रकृति के अधिष्ठाता पुरुषोत्तम भगवान् प्रकृति के गुणों के द्वारा जीव से कर्म कराते हैं। तब भगवद्दर्शन है, यह अपने हृदय में ही हैं? क्योंकि हृदय में ही भगवान् का प्रकाश स्थान है। सब भूतों के हृदय में ही भगवान् अधिष्ठित हैं। वे सबको उनकी माया शक्ति के द्वारा कर्म में प्रवर्तित करते हैं। जीव अज्ञानवश अहङ्कार में विमूढ़ हुआ सोचता है कि वह स्वयं ही कर्म करता है। यह भ्रम तब समाप्त हो जाता है। तब भगवद्दर्शन के फलस्वरूप अहंकार नष्ट हो जाता है, क्योंकि उसके मूल में अज्ञान भी काटा जाता है। तब समझा जा सकता है कि जीव किसी कर्म का भी वास्तविक कर्त्ता नहीं है। तब भगवान् का उपदेश उस समय के उपयोगी रूप में उसके निकट उदित होता है। इस उपदेश का तात्पर्य यह है—जितने प्रकार के धर्म-कर्म हैं, सबका परिहार करना उचित है। जो भगवत्स्वरूप प्रत्यक्ष हुआ है, उन्हीं का अवलंबन लेकर रहना उचित है। वे जिस प्रकार प्रवर्तन या निवर्तन करें वही श्रेष्ठ है। इस प्रकार करने पर जीव का अनादि सञ्चित, अज्ञानरूपसञ्चित, मल सदा के लिए दूर हो जाता है एवं जीव निर्मल सायुज्य लाभ करता है। वेदान्त में जो पञ्चकोष है, उसमें इसी आनन्दमय कोष का व्यापार है। इस समय जीव में भी भगवत्ता का उदय होता है।

सुतरां स्मरण रखना होगा कि यद्यपि एकमात्र भगवत्कृपा ही उद्धार का कारण है तथापि उस कृपा के प्राप्त होने से पुरुषकार के द्वारा बहुत से कर्म करने हैं, एवं उस कृपा-प्राप्ति के बाद भगवत्प्रेरित होकर भी बहुत से कर्म करने हैं। सुतरां कर्म का एक निदिष्ट स्थान है, कृपा का भी एक निर्दिष्ट स्थान है। किसी को छोड़ा नहीं जा सकता। भगवान् जिस प्रकार कृपा करते हैं उसी प्रकार जीव की अपनी आत्मा भी कृपा करती रहती है। सुतरां भगवत्कृपा रहने पर भी

आत्म-कृपा आवश्यक है एवं अपने पुरुषकार रूप में सतत कर्म करने पर भी उसके पश्चात् भगवत्कृपा आवश्यक है। इन दोनों का समन्वय रहने पर कोई अभाव नहीं रहता।

अनेक समय देखा जाता है कि जन्मजन्मान्तर भगवत्कृपा की क्रिया हुई है किन्तु साधना की क्रिया नहीं हुई है। वैसा होने पर कृपा और पुरुषकार का संयोग होता रहता है। उसी प्रकार कल्पकल्पान्तर साधना की क्रिया चली हुई है लेकिन भगवान् की कृपा के उदय के साथ-साथ वह कार्य में परिणत होती है। एक पक्षी के जिस प्रकार दो पंख हैं। लेकिन पंख टूट जाने पर केवल एक पंख से उड़ नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार पुरुषकार और कृपा दोनों आवश्यक हैं। किसी स्थान पर कृपा अति प्राचीनकाल से चली आई है लेकिन ठीक पुरुषकार के उदित होने पर ही फल प्राप्ति होती है। दूसरे स्थल पर अनादिकाल से पुरुषकार की चेष्टा चली है लेकिन वह तभी सफल है, यदि अल्पमात्र कृपा का सहयोग प्राप्त होता है। कृपा और साधना दोनों ही शक्ति के प्रकाश हैं। दोनों की सार्थकता रहती है। इतना कहना पर्याप्त है कि कोई आगे एवं कोई बाद में, इस विषय में मात्र तारतम्य रहता है।

तुम विचार कर सकते हो कि श्रीभगवान् जो कृपा करते हैं वह समझ सका लेकिन जीव की आत्मा पुनः किस प्रकार कृपा करे, यह स्पष्ट समझ नहीं सका।

इसके उत्तर में कहता हूँ कि यह विश्व श्री भगवान् के लीला क्षेत्र का स्वरूप है। लीला क्षेत्र में सर्वत्र ही इच्छा का प्राधान्य रहता है अर्थात् इसके मूल में भाव है। इस खेल में भगवान् की नियन्त्रण शक्ति कार्य नहीं करती। कोई यदि भगवान् को चाहता है, स्वभाव के नियम में भगवान् भी उसको चाहते हैं। किन्तु किसी के न चाहने पर अर्थात् भोग-वासना के द्वारा जड़ित रहने पर, भगवान् उसमें हस्तक्षेप नहीं करते हैं। स्वाभाविक नियमानुसार जब वासना से मुक्त होने की इच्छा उसके हृदय में उदित होती है तब भगवान् उसकी सहायता करते हैं, जिससे वह उस बन्धन से मुक्त हो सकता है। किन्तु क्रमशः एक समय होता है जब भगवान् इस हार-जीत रूप खेल से निवृत्त हुए शान्ति स्वरूप आत्मप्रकाश करने की इच्छा करते हैं अर्थात् मायिक लीला का संहार करना चाहते हैं। तब जीव की योग्यता अथवा अयोग्यता का विचार नहीं करते हैं। सम्पूर्ण दायित्व अपने ही लिए होते हैं। तब का भाव यही है कि भगवान् जो जीव को बोले थे कि तुम्हारे जितने भी दोष हों अथवा अयोग्यता हो उसका मूल कारण तो मैं हूँ अर्थात् अच्छा हो अथवा बुरा हो, भगवान् लीला में प्रविष्ट हुए हैं, कहने से यह वैचित्र्य उत्पन्न हुआ है। जब मायिक लीला संवरण करने की इच्छा करते हैं तब समस्त दायित्व स्वयं ही ग्रहण करते हैं एवं तब जीव की योग्यता का कोई विचार नहीं रखते हैं।

क्योंकि योग्यता के मूल में भी उनकी ही इच्छा है। तब उन्होंने कहा है कि जीव का भला-बुरा जो भी हैं, सबके मूल में वही है। जीव अज्ञ और दुर्बल है फिर उसका दोष क्या है? तब एकमात्र अपेक्षा हमको पकड़ कर रहने की होती है। क्या अच्छा है क्या बुरा है, तब यह प्रश्न नहीं है, केवल आनुगत्य आवश्यक है—उनको पकड़ कर रखें, यही वह चाहते हैं। उनके प्रति जिनका आनुगत्य नहीं है, उनके लिए वह अपने को जिम्मेवार सोचते हैं एवं सबका ही उद्धार करते हैं—तभी किसी को थोड़ा पहले, किसी को थोड़ा बाद में। यह 'Law and Love' के समन्वय के समान है। जब 'Law' का प्राधान्य था तब था कार्य कारण भाव, नियति शृंखला इत्यादि। अब भगवान् एकमात्र 'Love' को ही प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इसीलिए, अब सब जीवों का अधिकार है। पूर्व संस्कार के प्रभाव से कई थोड़ा पहले एवं कई थोड़ा बाद में एवं सबके अन्त में सब ही उनके प्रेम के पात्र के रूप में प्रकाशमान होते हैं। इस प्रकार सुनने में पाया जाता है कि कोई-कोई पशु अथवा वृक्ष अथवा अन्य किसी योनि का जीव वस्तुतः इस देह में रहने पर भी अनेक उसमें मनुष्य भाव की क्रिया देखने में पाई जाती है। यह पुराणों में भी प्रसिद्ध है एवं साधारण लोगों के अनेक अनुभव के गोचर हैं। इसका तत्त्व क्या है? जानने की इच्छा करता हूँ।

यह प्रश्न समझने के लिए प्रकृति के क्रम-विकास की धारा को समझना होगा। तुम जानते हो इस क्रम-विकास के पथ में चौरासी लाख योनियाँ सर्वप्रथम परिगणित होती हैं। इनमें स्थावर-जङ्गम, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग सब ही हैं। यह चौरासी लाख सृष्टि के मुख में प्रकृति के क्रम-विकास का निदर्शन है। इसके साथ कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य देह में जिस प्रकार बाल्य, यौवन, वार्धक्य एक दूसरे के बाद अपने आप आते हैं, उसी प्रकार इस प्रकृति के क्रम-विकास में स्थावर से जङ्गम एवं जङ्गम में भी क्रमशः अधिक विकास युक्त जीव हैं। पंचकोष की कथा सुनी है। अन्नमय कोष में विकास के बाद प्राणमय कोष का विकास होता है। यहाँ तक 'Subhuman Creation' है—यहाँ तक मन का आविर्भाव नहीं होता है। प्राणमय कोष के बाद मनोमय कोष का विकास मन से आरम्भ होता है। मनोमय कोष का विकास होने पर मन की अभिव्यक्ति होती है। मन के क्रम-विकास के फलस्वरूप क्रमशः अनन्त प्रकार के वैचित्र्य घटते हैं। मनोमय कोष में होने के बाद जिस प्रकार मन का आविर्भाव होता है, दूसरी दिशा में उसी प्रकार कर्म में अधिकार उत्पन्न होता है। मनोमय कोष के नीचे कर्म सत्ता नहीं है एवं कर्म से उत्पन्न अधःऊर्ध्व गति भी नहीं है एवं मनोमय कोष के ऊपर भी कर्मसत्ता नहीं है। सर्वत्र ही प्रकृति की अभिव्यक्ति के अनुसार अग्रगति सम्पन्न होती है। मनोमय कोष में भी वैसे ही होता है, किन्तु कर्म रहने के कारण प्राकृतिक स्वाभाविक

अभिव्यक्ति में कर्म बाधा देता है। मनोमय कोष का इतिहास अति विचित्र है—अर्थात् मनोमय कोषयुक्त मनुष्य अपने कर्म के प्रभाव में अधोगति और ऊर्ध्वगति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। इस अवस्था में कर्तृत्वाभिमान रहता है एवं कर्मफल भोग अवश्यम्भाविरूप में होकर रहता है। सुतरां कर्म के अनुसार मृत्यु-कालीन चिन्ता के प्रभाव में कई मनुष्य से पशु, पक्षी आदि योनि में जन्म ग्रहण करते हैं अथवा कई देवता अथवा पशु इत्यादि योनि में भी जन्म ग्रहण करते हैं। यह जो जन्म है, यह कर्म से उत्पन्न देह वस्तु की प्राप्ति है। उदाहरणतया, एक कुत्ता अथवा एक वृक्ष—इस प्रकार कोई देवता बाहिर से जब देखा जाता है, उसकी वास्तविक सत्ता वैसी नहीं है। यह कुत्ता भी, हो सकता है, पूर्व जन्म में मनुष्य था किन्तु मृत्युकालीन कर्म के वश से कुत्ते की योनि में जन्म ग्रहण किया है। इस प्रकार पक्षी, वृक्ष इत्यादि सब हो सकता है—देवता भी हो सकता है। यह सब कुत्ता अथवा वृक्ष वास्तविक कुत्ता अथवा वृक्ष नहीं हैं। यह सब देवता वास्तविक देवता नहीं है। वह मनुष्य जन्म के कर्म के प्रभाव में अन्तिमकाल की चिन्ता के अनुसार उस देह को प्राप्त करते हैं। जब यह देह-त्याग होगा तब यह कुत्ता भी मनुष्य देह धारण करेगा, वृक्ष भी वैसे ही, देवता भी वैसे ही। वह प्राकृतिक क्रम-विकास के साथ अनुस्यूत नहीं है। यह अधोगति वास्तविक अधोगति नहीं है, ऊर्ध्वगति भी वैसी ही है। प्रकृति के विकास में शुद्ध सत्त्व की अभिव्यक्ति वास्तविक अभिव्यक्ति है। इससे मनोमय कोष भेद हो जाता है एवं विज्ञानमय कोष का सूत्रपात होता है। विज्ञानमय कोष में कर्म नहीं रहता। मनुष्य को मनोमय कोष में लाख-लाख साल रहना होता है। तब भी इस स्थल पर एक प्रश्न है। वह यही कि बाह्यजगत् में हम जो कुछ देख पाते हैं, वह स्वरूप का निर्णायक नहीं है। एक कुत्ता अथवा एक अश्व अथवा अन्य कोई प्राणी चौरासी लाख योनि के अन्तर्गत होने में समर्थ है अथवा यह मनुष्य योनि से अवतीर्ण हुआ उस योनि में जन्मग्रहण करता है, यह भी सम्भव है। प्रकृति का क्रम-विकास होने पर, दूसरी-दूसरी योनियों में प्रवेश स्वयं ही होता है एवं क्रम-विकास के नियम में वही स्वाभाविक है। इस प्रकार देवता भी वास्तविक देवता नहीं है—केवल पुण्यफल-स्वरूप भोग विशेष लाभ के लिए देव देह ग्रहण करते हैं। पशु-पक्षी भी वैसे ही हैं। यह पशु-पक्षी अथवा देवता होने पर भी वस्तुतः मनुष्य हैं। कर्मानुयायी, ये देह त्याग के बाद पुनः मनुष्य देह में प्रत्यावर्तन करते हुए प्रकृति के विकास के अनुसार गति प्राप्त करते है। तब भी एक बात हैं—जो योगी अथवा ज्ञानी है, वे इस सब स्वरूप को पहचान सकते हैं—देवता देखने पर ही वे समझ सकते हैं कि देवता होने पर भी यह मनुष्य हैं एवं भोगान्त में मनुष्य देह में लौट जाएँगे। कुत्ता इत्यादि योनि में भी इस प्रकार की सम्भावना है। अनेक पशु देखने में पाए जाते हैं कि वे एक प्रकार से ऋषि के समान हैं, फिर भी अपने को

स्वयं पहचान नहीं सकते हैं। ज्ञानी की चक्षु में सब रखा पड़ा है। जिसका जो स्वाभाविक कोष है अर्थात् मनोमय कोष है, वह इस देव देह में भी रहता है एवं पशु-पक्षी के देह में भी रहता है किन्तु थोड़ा गुप्त रूप में। जिस स्तर में दर्शन होता है, उस स्तर में अन्तराल में पूर्वजन्म की स्वाभाविक सत्ता अभिव्यक्त रहती है। लेकिन जिन्हें अब तक मनोमय कोष प्राप्त नहीं हुआ है, उनके सम्बन्ध में यह बात सत्य नहीं है। इस विषय को अच्छी प्रकार से समझने की चेष्टा करो।

१६

पूर्ण सत्य का स्वरूप क्या है?

तुमने जो प्रश्न किया है वह अति जटिल होने पर भी अति सरल है। जो पूर्ण सत्य है वह अखण्ड प्रकाश स्वरूप है, यह बात अनेक लोग कहते हैं। किन्तु ध्यान रखना है कि प्रकाश का स्वरूप समझने के लिए, प्रकाश और अप्रकाश का पार्थक्य कैसे होता है, वह समझना होगा। क्योंकि जो प्रकाश है, वही पुनः दूसरी अवस्था में अप्रकाश रूप में प्रतीत होता है। प्रकाश में एक शक्ति निरन्तर खेल करती रहती है। उस शक्ति को दार्शनिक आचार्यगण वाक् रूप में निर्देश करते हैं। यह जो वाक् है इसके साथ प्रकाश का सम्बन्ध नित्य सिद्ध है। किन्तु वाक् रूपी शक्ति यदि कभी भी उत्क्रमण करके पृथक् हो जाती है उस समय प्रकाश प्रकाशमान नहीं रहता—वह तब स्वयंप्रकाश नहीं। वह तब एक हो जाती है। आचार्यगण कहते हैं—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

अर्थात् प्रकाश की जो शाश्वत नित्य-सिद्ध वाक्रूपता रही है, वह यदि उत्क्रमण करे अर्थात् प्रकाश को त्याग करे, वैसा होने पर प्रकाश स्वरूपतः प्रकाश हुआ भी अप्रकाश हो जाता है। अवश्य यह जो वाक् है यह परावाक् है। यही वस्तुतः मूल में पराशक्ति है—यही प्रकाश के साथ नित्य युक्त है। इसका नाम शिवशक्ति है। इसको स्वरूपशक्ति कहते हैं। लेकिन शक्ति स्वतन्त्र होने से अवस्था विशेष में प्रकाश से पृथक् हो जाती है। लेकिन उससे भी प्रकाश के साथ उसका नित्य सम्बन्ध नष्ट नहीं होता। ध्यान रखना होगा कि प्रकाश शिव है—शक्ति के सहयोग में शिव है, नहीं तो वह शव रूप में परिणत होता है। किन्तु यह नित्य सम्बन्ध है, यह नष्ट होने के लिए नहीं है। लीला के वश से कभी विचार आता है

कि शक्ति शिव को छोड़ कर उत्क्रमण की है। इस अवस्था में प्रकाश और अप्रकाश, दोनों में कोई भेद नहीं रहता। प्रकाश की महिमा शक्ति के सम्बन्ध के कारण है। यह नित्य सम्बन्ध है तथापि शक्ति का स्वातन्त्र्य है, कहने से लीलारूप में यह प्रकाश को परिहार करके ऊर्ध्वगमन करती है अर्थात् उत्क्रमण करती है अर्थात् प्रकाश तब शक्तिहीन होता है। लेकिन वास्तविक प्रकाश को तब त्याग नहीं करती, क्योंकि दोनों में शाश्वत सम्बन्ध है। लीला के बहाने यह उत्क्रमण होता है। प्रकाश को ब्रह्म कहा जाता है। किन्तु शक्ति के सहयोग से यह ब्रह्म ही पूर्ण ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है। इसका ही नाम स्वयं प्रकाश है। किन्तु ध्यान में रखना होगा कि यह जो शक्ति है, जो प्रकाश में नित्य समवेत है, उसका नाम पराशक्ति है। शब्द ब्रह्म इसका ही दूसरा नाम है।

यहाँ एक रहस्य है, वह समझने की चेष्टा करो। शास्त्र में है—"शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्म अधिगच्छति"। शब्द ब्रह्म ही परावाक् है, यही परब्रह्म में प्रवेश का द्वारस्वरूप है, जिसको तन्त्रशास्त्र विमर्श कहता है। वह इस परावाक् का दूसरा नाम है। प्रकाश और विमर्श शिवशक्तिरूप में अभिन्न स्वरूप हैं। तब भी प्रकाश निष्पन्द है एवं विमर्श वाक्रूप में स्पन्दात्मक है—इन दो का जो सम्बन्ध है वही शिवशक्ति का सम्बन्ध है। यह जो वाक् है, यह प्रकाश में नित्य वर्त्तमान है, कहने से प्रकाश में अहंभाव का स्फुरण होता है। इसका ही नाम पूर्णाहन्ता है। इस अवस्था में प्रकाश परम 'अहं' रूप में—एक अद्वय अहं रूप में विराजमान है। यही परम शिव की अहन्ता है। इस अहं भाव का उदय होने पर विश्व में सर्वत्र उस अहं को ही देखा जाता है। इसको प्राचीन वैदिकगण उत्तम-पुरुष कहते हैं। इसको पुरुषोत्तम बोला गया है। आगम शास्त्र में यह अवस्था पूर्णाहन्ता की अवस्था है। वैदिक परिभाषा में मध्यम पुरुष इससे कुछ निकृष्ट है। उस रूप में यदि निकृष्ट पुरुष का आभास खुल जाए वह और भी निकृष्ट है। स्वरूप किन्तु तीनों का ही एक है। उपासना के द्वारा निकृष्ट पुरुष (3rd person) से मध्यम पुरुष तक विकास होता है। इसका ही नाम प्राणप्रतिष्ठा है। प्राणप्रतिष्ठा से उपासक मूर्ति को जीवन्तभाव में तुमिरूप में अनुभव कर सकता है, एवं उपास्य उपासक में परस्पर वाक्यालाप सम्भव होता है। यह मध्यम पुरुष की अवस्था है। साधारण रूप में इसे सिद्धावस्था कहते हैं। किन्तु यह भी पूर्णता नहीं है। उत्तम अवस्था में तुमि भाव नहीं रहता। एकमात्र आमिभाव में सब पर्यवसित होता है। तब उपास्य बोलने से कुछ पृथक् नहीं रहता—स्वयं ही उपास्य स्वयं ही उपासक। यह अवस्था पूर्ण अहंभाव की है। इस जगत् में जो अहं भाव देखने में आता है, वह एवं यह पूर्ण अहं-भाव, दोनों में पार्थक्य है। जगत् में जो चेतन पुरुष हम लक्ष्य करते हैं, वहाँ जो अहं-भाव का उदय होता है, वह देह का आश्रय करके होता है—स्थूल एवं सूक्ष्म एवं कारण देह को आश्रय करके।

यह तीनों देह जड़पदार्थ हैं। उसको आश्रय करके जिस अहं भाव का उदय होता है, वह स्वावलम्बन नहीं है, वह शुद्ध अहं नहीं है। अशुद्ध अहं बोलने से ही जड़ का अवलम्बन आवश्यक है। अर्थात् इस जड़वस्तु में तादात्म्यवश से अहंभाव का स्फुरण होता है। इस तादात्म्य के तोड़े जाने पर यह अहं भाव नहीं रहता। व्यावहारिक जगत् में ग्राहक अथवा ग्रहीता, ग्राह्य एवं ग्रहण, ये जो तीन शब्दों का प्रयोग है, वह इस प्रकार के अवलम्बन के प्रभाव से है। योगी जिस किसी वस्तु को अवलम्बन करके अहंभाव का स्फुरण कर सकता है—स्फुरण करके जिस किसी वस्तु को संचालित कर सकता है। यह सिद्धिस्वरूप है किन्तु यह सत्य नहीं है। एक पत्थर को संचालित करके एवं उससे बातें करवा के एवं अचेतन चेतन के समान व्यवहार कराना, यह सिद्धिविशेष है—यह इन्द्रजाल है। यथार्थ अहं, जो शुद्ध एवं निर्मल है, वह जड़ सत्ता का आश्रय नहीं लेता। जड़ सत्ता का आश्रय लेके जो अहं है, वह जागतिक ग्राहक है। जड़सत्ता का आश्रय न लेके स्वरूपविद्ध जो अहं है, उसका ही नाम पूर्णाहम् है। वह अहं एक ही है। प्रत्येक साधक का लक्ष्य होना उचित है, अपने को वह पूर्ण अहं रूप में पहचान सकता है। यह देहात्मबोध रहने पर नहीं होता, एवं देहात्मबोध न रहने पर भी नहीं होता। यह स्वयंसिद्ध है, नित्य एवं सर्वभूत में विद्यमान है। किन्तु सर्वत्र यह अज्ञान दूर कर सकने पर दो अवस्था का विकास सम्भव पर है—एक महाप्रकाशभाव—दूसरा पूर्ण अहंभाव। महाप्रकाशभाव के साथ यदि चिद्रूपी महाशक्ति का सम्बन्ध रहता है, वही पूर्ण अहं रूप में प्रकाश पाता है, जिसको हम साधारणतः परमेश्वर बोलते हैं। यह भाव सब जीवों में है। अभिव्यक्ति होने की सम्भावना मनुष्य में रहती है। चित्तशक्ति का पूर्ण विकास होने पर इस अवस्था का उदय होता है। इसके साथ शब्दब्रह्म अर्थात् परावाक् का योग रह भी सकता है, नहीं भी रह सकता है। योग न रहने पर पूर्ण अहंभाव की अभिव्यक्ति नहीं होती है। योग रहने पर यह नित्यसिद्ध रूप में प्रवेश पा के रहता है। दुर्गासप्तशती में भगवती ने कहा है "एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा"—एकमात्र मैं ही इस जगत् में हूँ, दूसरा कहाँ? यही भगवती का स्वरूप है। प्रत्येक मनुष्य में यह अहं है। जितनी देर तक देहादि का अवलम्बन विद्यमान रहता है, उतनी देर यह देहाश्रय में खण्ड अहं रूप में प्रकाश पाता है। इस खण्ड अहं की जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिरूप में तीन अवस्थाएँ हैं—देहात्मबोध है—श्वास प्रश्वास की क्रिया है। सुषुप्ति में अज्ञान में अवगाहन होता है। किन्तु जब नित्य बुद्ध, शुद्ध अहं आत्मप्रकाश करता है तब इड़ा एवं पिङ्गला की वक्र गति समाप्त हो जाती है। देहात्मबोध नहीं रहता। भूताकाश और चिदाकाश से ऊर्ध्वगति होती है। यही श्रीबुद्धदेव की 'स्रोतापन्न' अवस्था है। इस अवस्था में क्रमशः ऊर्ध्वमुख में उत्थान होता है तब स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण जगत् मिलकर एक हो जाते हैं। चिदाकाश में माँ की गोद में प्रवेश होता है। यही वेदांत

के विज्ञानमय कोष की अवस्था है। इसकी परिणति आनन्दमय कोष में स्थिति है। उसके बाद कोष से मुक्ति है। तब जीव पूर्ण अहंरूप में आत्मप्रकाश करके रहता है। यह पूर्ण अहं ही उसका वास्तविक स्वरूप है। दहराकाश अर्थात् हृदयरूपी कमल अभिव्यक्त होने पर यह ऊर्ध्वगति पाई जाती है। तब देहाभिमान नहीं रहता फिर भी अहंभाव रहता है।

यहां तक जो कहा गया उससे समझ सकते हो कि पूर्ण सत्ता केवल चिद्रूपी नहीं है, आनन्द रूप भी है। चिद्रूपी कहने से वे प्रकाश रूप हैं एवं वागात्मक अथवा सत्यात्मक स्वरूप के साथ नित्य अभिन्न रूप में विराजमान है—तभी वे आनन्द स्वरूप हैं। शब्दब्रह्म, परब्रह्म जब अभिन्न रूप में प्रकाश पाते हैं तब सच्चिदानन्द भाव की अभिव्यक्ति होती है। केवल प्रकाश प्रकाश ही नहीं यदि उसके साथ विमर्श नहीं रहता। विमर्श ही वाक् अथवा परावाक् है, जिसके सम्बन्ध के कारण महाप्रकाश में अहंभाव की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक खण्ड अहंरूपी जीव में यह महाप्रकाश विद्यमान रहता है। वस्तुतः उसका अहंभाब, जो उपाधि के सम्बन्ध के कारण बना रहता है, उसके नष्ट हो जाने पर एवं इस परावाक् का स्फुरण अभिव्यक्त होने पर परमेश्वररूप में प्रत्येक जीवहृदय में जो यह विराट् चैतन्य विद्यमान रहता है उसकी उपलब्धि होती है। सुतरां आत्मशब्द उस शुद्ध निजभाव को लक्ष्य करके व्यवहृत होता है जो कभी भी परित्यक्त नहीं होता। ग्राहकरूप में उपाधि के कारण अहंभाव का उदय होता है। किंतु ग्राह्यग्राहक भाव नष्ट हो जाने पर नित्यचैतन्य अभिव्यक्त होने पर वह उसी परम अहंरूप में अभिव्यक्त होता रहता है। उसी परम अहं को ही लोक में परमात्मा कहते हैं। यह युगलरूप है फिर भी अद्वैत है। क्योंकि यह प्रकाशात्मक होने पर भी नित्यविमर्शयुक्त है। प्रत्येक जीव के हृदय में समयविशेष में इस परमरूप का स्फुरण हो सकता है। यह एक और अनन्य है फिर भी प्रत्येक हृदय में स्थित प्रकाश के कारण प्रत्येक जीव अपने में अनुभव करता है। आशा करता हूँ इस संक्षिप्त विवरण में प्रकाश और विमर्श सम्बन्ध में कुछ-कुछ रहस्य का उद्घाटन अनुभव कर सकते हो। इस पूर्ण अहंभाव को प्राप्त होना ही साधक, योगी, भक्त—सबका लक्ष्य है।

इससे परावाक् के बाद दी हुई जो अवस्था है वह भी प्रकाशस्वरूप है किन्तु वह स्वयंप्रकाश नहीं है। प्रकाशस्वरूप होने पर भी वह अप्रकाश है। योगी, ऋषि कोई भी उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं। जो युगलरूप है वही शिवशक्ति के सामरस्यरूप में अद्वैतभाव ग्रहण करने से प्रकाशित होता है। यह एक होने पर भी अनन्त है एवं प्रत्येक जीव के द्वारा अधिगम्य है। विमर्श ऐश्वर्य है, यह ध्यान में रखो। विमर्शहीन प्रकाश ईश्वरपदवाच्य नहीं हो सकता।

१७

गीता के अठारहवें अध्याय में पाया जाता है कि प्राणियों के हृदयप्रदेश में ईश्वर विराजित होता है एवं वहाँ से मायी रूपी रज्जु द्वारा सब प्राणियों का संचालन करता है। इस स्थल पर हृदय शब्द का क्या अर्थ है एवं उस स्थल पर अवस्थान किस प्रकार का है, जानने की इच्छा है। साधक के साधनपथ में हृदय का ज्ञान कितना आवश्यक है, वह हमारी जिज्ञासा है। यह हृदय स्थूल देह के (heart) शब्द का प्रतिपाद्य है ऐसा मन में नहीं आता। इस हृदयविज्ञान को अनेक दिनों से अधीन करने की इच्छा रही है किन्तु इसका रहस्य ठीक समझ नहीं सकता।

तुम्हारा यह प्रश्न अति उत्तम है। प्रत्येक साधक के लिए हृदय का ज्ञान अत्यावश्यक है। यह सभी जानते हैं कि लौकिक मनुष्य के जीवन में भी हृदय को जानने का प्रयोजन है। क्योंकि साधारणतः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को समझने के लिए हृदय को समझना आवश्यक है। क्योंकि हृदय से नाड़ीजाल प्रसृत हुआ समस्त देह में व्याप्त होता है। जाग्रतावस्था में कितनी नाड़ियाँ हृदय से प्रसृत हुई अन्नमय कोष में इन्द्रिय-द्वार तक सञ्चालित रहती हैं। इन सब नाड़ियों के द्वारा सारी इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं एवं रूप रसादि बाह्य जगत् के सब विषय ग्रहण करती हैं। अन्नमय कोष इस प्रकार हृदय के साथ संश्लिष्ट है। वहाँ हृदय अज्ञान से आवृत्त है किन्तु मनोवहा नाड़ी के द्वारा पूर्ण रूप से अधिगत है। स्वप्न जगत् इसके साथ संश्लिष्ट है। किन्तु सुषुप्ति काल में नाड़ी की क्रिया नहीं रहती। मन हृदय में डूब जाता है। हृदय तब अज्ञान में आच्छन्न होता है। इसके बाद जिस ज्ञान का किञ्चित् मात्र उदय है, उसका ऊर्ध्वमार्ग के साथ सम्बन्ध होता है। तब हृदय से सञ्चालित ऊर्ध्वनाड़ी के द्वारा वे चालित होना आरम्भ करते हैं। तब देहात्मबोध नष्ट हुआ होता है। तब सुषुम्ना की क्रिया स्पष्ट रूप से अनुभूत होती रहती है। भौतिक आकाश और चित्ताकाश भेद हो जाता है। क्रमशः चिदाकाश में प्रवेश होता है। साधक तब मनोमय कोष से उत्तीर्ण हुआ क्रमशः विज्ञानमय कोष में अधिकार करता है। चिदाकाश में अखण्ड सत्ता अनन्त रूप में प्रकाशित होती रहती है। दिव्यरूप, दिव्यगन्ध इत्यादि प्रकाश पाते हैं। देशकाल की सीमा तब और उसकी दृष्टि को आबद्ध नहीं करती। इस क्रमिक ऊर्ध्वगति के साथ अवस्थाविशेष में ऊपर से एक अधोगति का संयोग होता है। तब इन्द्रिय की क्रिया नहीं रहती एवं बाह्य विषय का ग्रहण नहीं होता। किन्तु प्राण की क्रिया रहती है एवं जीव स्वप्नजगत् में सञ्चालन करता है। जाग्रत् अवस्था के समान स्वप्नावस्था में भी नाड़ी की क्रिया रहती है। यह सब नाड़ियाँ प्राणमय कोष के साथ संश्लिष्ट हैं। प्राणमय कोष स्वप्नावस्था में क्रियाशील रहता है। जाग्रतावस्था में

जिस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा स्थूल जगत् का ग्रहण होता है, स्वप्नावस्था में उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् का ग्रहण होता रहता है। इन दोनों में कार्य ही नाड़ी के सञ्चालन मूलक हैं। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में मन नाड़ी पथ में सञ्चरण नहीं करता किन्तु हृदय में निष्क्रिय भाव में सुप्त रहता है। तभी इस अवस्था में बाह्य जगत् का बोध नहीं होता, आन्तरिक जगत् का भी बोध नहीं होता—कोई बोध ही नहीं होता। इस अवस्था से मन हृदय में सुप्त रहता है यह मन की निष्क्रिय अवस्था है। यहाँ अविद्या का सम्पूर्ण प्रभाव है। उसके बाद जीवन-योनिप्रयत्न के द्वारा जीव की सुषुप्ति भङ्ग होती है। इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के बीच संसारचक्र आवर्तित होता है। किन्तु यदि भाग्यवान पुरुष ज्ञान का सन्धान पाया हो तो उससे समझना होगा कि वे ज्ञान के आलोक में हृदय का अन्धकार दूर करने में समर्थ हुए हैं। इस अवस्था में मन सुषुप्त नहीं रहता और जाग्रत् हुआ हृदय भेद करके ऊर्ध्वमुख में उत्थित होता है। शास्त्र कहते हैं "शतं च एका च हृदयस्य नाड्य:" अर्थात् हृदय से असंख्य नाड़ी (शत शब्द का अर्थ असंख्य) निम्न दिशा में—चारों दिशाओं में व्याप्त होती हैं। इन सब नाड़ियों के द्वारा जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में जीवन का कार्य निर्वाह होता है। यह अज्ञानी के संसार की अवस्था की कथा है। किन्तु जो भाग्यवान पुरुष ज्ञान प्राप्त किए हैं, वे इस आवर्त में नहीं पड़ते। वे ऊर्ध्वमुख में सुषुम्ना की सहायता से गतिशील होते हैं। यह जो बोला गया है – 'शतं च एका च' यह एक नाड़ी है, ब्रह्मनाड़ी, इसका नाम सुषुम्ना है। यह ऊर्ध्वदिशा दिशा में अनन्त प्रकार व्याप्त रहती है। इस नाड़ी के द्वारा विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष में गति और स्थिति लाभ होता है। दोनों के सम्मेलन में विज्ञानमय कोष से आनन्दमय कोष में प्रवेश लाभ होता है। जागतिक दृष्टान्त इस प्रकार है कई किसी महापुरुष की ओर से भी उसे प्रेम से ग्रहण करने के लिए लोग हैं। यह भी वही रूप है। ऊर्ध्वगति एवं महाशक्ति की दिशा से अधोगति, इन दोनों के संयोग से एक अपूर्व आनन्दराज्य की सृष्टि होती है। यही आनन्दमय कोष की नींव है। गुरु द्वारा दी हुई मन्त्ररूप कृपाशक्ति के पहले ही विद्यमान रहने में उसी आनन्द की सृष्टि स्वाभाविक रूप से होती रहती है।

यह नाड़ी भी हृदय से ही प्रसृत होती है। इस नाड़ी से गतिशील पुरुष इस भूताकाश के जगत् एवं स्वप्नमय चित्ताकाश के जगत् में मुक्त हुआ चिदाकाश के चिन्मय जगत् में विचरण करता है। उसका देहाभिमान नहीं रहता—यह कहना ही पर्याप्त है। इस कारण प्रत्येक साधक का विशेष रूप में हृदय के साथ परिचित होना कर्त्तव्य है। हृदय प्रस्फुटित होने पर एक विकसित कमल के समान देखने में पाया जाता है। हमारे कवि और ऋषिगण हृदय-कमल शब्द का प्रयोग किए हैं, वह बिल्कुल ठीक है—तभी उस विकसित कमल की

अवस्था जाननी होगी। सूर्य के उदय में कमल विकास को प्राप्त होता है। हमारा हृदयरूपी कमल भी सूर्य के उदय होने पर विकसित होता है। जितनी देर वैसा नहीं होता उतनी देर हृदय अन्धकार में आच्छन्न रहता है एवं उसका अस्तित्व भी अनुभवगोचर नहीं होता। प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य अपने-अपने हृदय को अनुभव करना है। हृदय आकाश स्वरूप है। प्राचीन वैदिक ऋषिगण इसको दहराकाश कहते थे। हमारे उपनिषदों में दहर विद्या की बात चर्चित हुई है। किन्तु इसका साक्षात् परिचय प्राप्त करना अत्यन्त भाग्यवान् को ही मिलता है। हृदय के सम्बन्ध में मनन करने से समझना होता है कि यह एक आकाश का व्यापार है, जिसको अन्तराकाश कहा जाता है। जितनी देर यह प्रस्फुटित नहीं होता उतनी देर वह देखने में पाया नहीं जाता। यह प्रत्येक मनुष्य के साथ नित्य सिद्ध रूप में विद्यमान रहने पर भी साधारण किसी को इसका सन्धान प्राप्त नहीं होता। यह अति प्रसिद्ध बात है कि निज इष्ट देवता का हृदय में दर्शन करना होता है। किन्तु जितनी देर हृदय में ज्ञान का आकाश आलोकित नहीं होता उतनी देर यह प्रस्फुटित नहीं होता एवं इसमें इष्ट देवता का साक्षात्कार अथवा गुरु का साक्षात्कार अथवा शुद्ध परमधाम का साक्षात्कार नहीं होता। इसलिए हृदय को पहचानने के लिए विशेष चेष्टा आवश्यक है। मनन से भिन्न निदिध्यासन नहीं होता एवं मनन के मूल में भी श्रवण आवश्यक है। तभी इस सम्बन्ध में कई एक सारगर्भ बातें प्रकट करता हूं। हृदय बोलने से physical heart नहीं जानो, यह पहले ही कहा है। इस पर मनन करने से बाह्य कोई उपमा आवश्यक नहीं होती क्योंकि यह अन्तराकाश है। हम जो कुछ देखते रहते हैं एवं जिस प्रकार कल्पना भी करते रहते हैं वह बाह्य आकाश के अन्तर्गत है। लेकिन हृदय अन्तराकाश कहने से बहिर्मुख वृत्ति दिखाई नहीं देती। हमारी समग्र देहसत्ता में षट्-चक्र का जो संस्थान है वह तुम जानते हो। तदनुसार समझ सकते हो कि भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि होने से लोक में चित्त की एकाग्रता जब सिद्ध होती है, तब भ्रूमध्य में दृष्टि निबद्ध होती है। यह बात अच्छी प्रकार स्मरण रखो। साधक के पक्ष में कल्पना के द्वारा बाह्य ज्ञान रहित होकर उदीयमान सूर्य के समान ज्योतिर्मण्डल पर ध्यान करते-करते इस एकाग्रभूमि पर प्रकाश का उदय होता है। यह प्रकाश पहले अस्त होता है अथवा चञ्चल रहता है। बाद में वह स्थिर भाव ग्रहण करता है। इस स्थिर प्रकाश के द्वारा हृदयकमल विकसित हो उठता है तब अन्तराकाश की अभिव्यक्ति होती है। एवं यह अन्तराकाश विकसित कमल का कर्णिकास्वरूप है। इस अवस्था में विकसित हृदयकमल दृष्टिगोचर है एवं उसमें एक चिन्मय महाप्रकाशमय जगत् प्रकट हो जाता है—यह अन्तर्जगत् है, बहिर्जगत् नहीं। यदि यह प्रकाशमय जगत् एवं इसकी कोई विभूति बाहिर प्रकाशित होती है तो अनुभव होता है कि तब भी वास्तविक पक्ष में वह बाहिर में नहीं है भीतर में है। इन्द्रिय

द्वारा उन्मुक्त करने से बाह्य जगत् के दर्शन होते हैं लेकिन इन्द्रिय द्वारा निरुद्ध करने पर ही यह आन्तरिक जगत् अति स्पष्ट रूप में देखने में पाया जाता है। यह अपने सम्मुख ही देखा जाता है। किन्तु यह सम्मुखभाव है—अन्तर्मुखावस्था का सम्मुखभाव है। इस कमल में देवदेवी के दर्शन होते हैं; सिद्ध महापुरुषों के भी दर्शन होते हैं। तब मन में आता है कि यह दर्शन सम्मुख ही होते हैं। इसीलिए चक्षु खोलते ही यह देखा जाता है। किन्तु यह दर्शन बाहिर का दर्शन नहीं है एवं यह बाहिर देखा हुआ भी जाता नहीं है। क्योंकि यह इन्द्रिय का द्वार निरोध करने पर भी और भी अधिक उज्ज्वलभाव में भीतर में देखा जाता है। अपनी अन्तर्मुख दृष्टि के सन्मुख भाग में यह इष्ट होता है। इस दृष्टि के सामने जो कुछ प्रकाशित होता है सभी चिदाकाश के अन्तर्गत है। यह हमारे वाह्यजगत् के साथ सर्वथा असंलिष्ट है। विचार आता है कि बाहिर देखते हैं, लेकिन देखते हैं वस्तुतः भीतर में भीतर का आकाश अन्तराकाश है—वही चिदाकाश है।

यही चिदाकाश चिदालोक में आलोकित है, इसकी सत्ता हृदय में प्रतिष्ठित है। प्रत्येक साधक के हृदय में यह महासत्ता विराजित होती है किन्तु देखने में पाया जाता है तभी जब हृदय का अन्धकार दूर होता है एवं हृदय-कमल विकसित होता है। तभी यह समझा जा सकता है कि जो हृदय है, यह एक अनन्त महासत्ता है। वास्तविक पक्ष में प्रत्येक जीव का साधारण अर्थात् भिन्न-भिन्न जीव का भिन्न-भिन्न हृदय नहीं रहता। इसीलिए गीता में भगवान् ने कहा है—"सर्वभूतानां हृद्देशे"—सर्वभूत बहुवचन है किन्तु 'हृद्देश' एकवचन है—इसका गम्भीर तात्पर्य है। इस हृद्देश में ईश्वर अथवा परमातमा नित्य प्रकाशमान हैं। वे माया के अधिष्ठाता हैं एवं मायारज्जु के द्वारा हमें सञ्चालित करते हैं। किसी विषय में हमारा वस्तुतः कर्तृत्व नहीं है। केवल अज्ञान के कारण अविद्या के प्रभाव में हम अपने को कर्त्ता बोलने का विचार करते हैं, तभी कर्मफल करने में बाध्य होते हैं। इस जाग्रत् हृदय के साथ परिचित होने पर उनके ऊपर सम्पूर्ण रूप से निर्भर किए भिन्न गत्यन्तर नहीं रहता। हृदय के अधिष्ठाता के रूप में जो नित्य विराज होते हैं वे ही एकमात्र कर्त्ता हैं। मनुष्य का कर्तृत्वबोध मूल रहित है, सुतरां उसी सर्वमय कर्त्ता को शरणागत भाव में आश्रय करने से भिन्न गत्यन्तर नहीं है। उसके बाद जो कुछ करणीय है, वह जाग्रत् शक्ति से ही होता रहता है। साधक को निज का विचार करने का अवसर नहीं रहता। लेकिन सर्वप्रधान कार्य है अपने हृदय के साथ परिचित होना। इस समय हृदय अज्ञान से आच्छन्न है—तभी हमारे में कर्तृत्वाभिमान का प्राबल्य है। हृदय समझ सकने पर समग्र अन्तराकाश स्वतः ही आलोकित हो उठता है। जगत् का ज्ञान उसकी तुलना में अति तुच्छ है। इसीलिए साधक को उदयकालीन सूर्य की चिन्ता करने को कहा है। इस चिन्ता के फल-स्वरूप भीतर में प्रकाश खुल जाता है एवं हृदय-कमल प्रस्फुटित होता है। तब

अखण्ड महासत्ता नित्य प्रकाशमान होती है एवं उसके साधक जिस प्रकार से इच्छा ग्रहण कर सकते हैं एवं वे भी अकुण्ठित रूप से भक्त के निकट ग्रहण किए रहते हैं। पिता, माता, सखा, प्रिय, स्त्री, गुरु—सब भाव ही उसके भीतर प्रकाश पाते हैं फिर भी वे भावातीत हैं। साधक भले ही किसी भी भाव का क्यों न हो, किसी भी धर्म का अवलम्बन करके क्यों न रहे, वह सबके साथ समरूप में सत्य है। एक अखण्ड सत्ता ही अनन्त रूप में आत्मप्रकाश करती रहती है। साधक निज भाव के अनुसार उसे प्राप्त होता है। कोई भी वंचित नहीं होता। किन्तु हृदय न खुलने पर, कमल न विकसित होने पर सब कुछ कल्पनामात्र है। यही अन्तराकाश पाश्चात्य विद्वानगण के fourth dimension से Infinite dimension पर्यन्त एक आधार में सब है। यह अन्तराकाश में प्रस्फुटित सत्ता इन्द्रिय के बहिर्मुख अवस्था के बाहर भी देखने को मिलती है किन्तु बाह्य जगत् के लोग उसे देख नहीं पाते हैं। साधक के निज इन्द्रियों के निरोध करने पर उसी अतीन्द्रिय अवस्था में, अपने सम्मुख ही यह प्रकाशित होता है, व्यवधान नहीं रहता। किन्तु प्रकाशित होने पर भी मायिक जगत् का जीव उसे देख नहीं पाता।

इस स्थल पर एक विषय जान के रखो कि हृदय से ऊर्ध्वगमनशील नाड़ी-जगत् की बात सुन रखी है। यदि कोई भाग्यवान् साधक इस ऊर्ध्वनाड़ी से सञ्चरण करने में समर्थ होते हैं, फिर भी पूर्णतालाभ के पहले ही देहत्याग करने में समर्थ होते हैं, वैसा होने पर दूसरे जन्म में उनकी यह शक्ति संस्कार रूप में विद्यमान रहती है। वह अपने से पहले समझने में समर्थ नहीं होता किन्तु ज्ञानी वर्ग वह समझ सकता है। तब ज्ञानी महापुरुष इस ऊर्ध्वगामी के संस्कार को जगा देते हैं, जिसके फलस्वरूप अल्प-समय में ये लोग पूर्णता में प्रवेश कर सकते हैं। एक बात ध्यान में रखो, हृदय से मूर्धा तक छत्तीस अङ्गुल ऊर्ध्वगति का मार्ग है। इस मार्ग पर चलते-चलते पूर्णत्व लाभ के पहले ही देह का अवसान होने पर दूसरे जन्म में यह सहज ही खुल जाता है। साधारणतः श्वास-प्रश्वास की गति एक अवस्था में अधःऊर्ध्व है—अर्थात् हृदय से निम्न में और उसके ऊर्ध्व में। और एक अवस्था है, हृदय से बहिर्देश में, पुनः हृदय में। तृतीय अवस्था हृदय से मूर्धा तक। श्वास-प्रश्वास स्थूलदृष्टि से भीतर और बाहिर, इस उभय दिशा में क्रमानुसार संचालित होते हैं। प्राणीमात्र की भी जीवितावस्था में श्वास की यह भीतर और बाहिर की गति रहती है। लेकिन मनुष्य में एक गुप्त धारा है। वह हृदय से ऊर्ध्व दिशा में मूर्धा की दिशा में है। मूर्धा से हृदय तक—यह अज्ञानी के एवं ज्ञानी के हृदय से ऊर्ध्व दिशा में मूर्धा की दिशा में और द्वितीय मूर्धा से नीचे की दिशा में गतिशील है। जो निम्नस्रोत अर्थात् हृदय से निम्न दिशा में गतिस्रोत है। वह अज्ञानी मनुष्य मात्र का ही है। लेकिन जिनकी गति हृदय से ३६ अङ्गुल ऊर्ध्व-दिशा में प्राप्त होती है वह पूर्णत्वलाभ के पहले देहत्याग करने पर दूसरे जन्म में

इस संस्कार को लेकर करके जन्म ग्रहण करते हैं। बौद्ध परिभाषा के अनुसार यह 'स्रोतापन्न' अवस्था की प्राप्ति का फल है। किसी व्यक्ति विशेष में यह लक्षित होने पर जानना होगा कि वे पूर्व-पूर्व जन्म में इस ऊर्ध्वगति को प्राप्त हुए थे। इस दिशा में वर्तमान जन्म में कम परिश्रम करना होगा क्योंकि गुरु उसी ऊर्ध्वस्रोत को जगा देते हैं। तब वह साधक सहज में ही पूर्णत्व के पथ पर अग्रसर हो सकता है। क्योंकि वह पूर्वजन्म के ऊर्ध्वस्रोत को जाग्रतभाव में प्राप्त हुआ है। वर्तमान जन्म में उसे नए सिरे से प्राप्त नहीं करना होगा। इससे समझा जा सकता है कि ज्ञान के उदय के साथ-साथ क्रमशः ऊर्ध्वस्रोत प्राप्त होता है। पूर्णत्वलाभ का प्रथम सोपान अधोगामी अवस्था में मध्याकर्षण सीमा के बाहिर अवस्थान है, उसके बाद दीर्घकाल जिस-जिस अवस्था में साधना के बाद पूर्णज्ञान के उदय में चरम अवस्था प्राप्त होती है—यही जीवन्मुक्ति है। साधारणतः योगी गण इसे मस्तक का श्वास बोलते हैं। प्रथम अवस्था में यह साधक अपने में भी ग्रहण नहीं कर सकता। हृदय से छत्तीस अंगुल ऊर्ध्वप्रान्त में यह ऊर्ध्वगामी पथ है। साधना पूर्ण होने पर श्वास की गति भी नहीं रहती। अधोगति का तो प्रश्न ही नहीं ऊर्ध्वगति भी नहीं रहती। यही हृदय में स्थिति है। यही हृदय-कमल की विकसित अवस्था में अभिव्यक्ति है। इसका ही नाम पूर्ण ज्ञान का प्रकाश है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर देहत्याग के बाद जन्मान्तर ग्रहण करना नहीं होता। यह हृदय में स्थिति है अर्थात् हृदय-कमल में नित्य अवस्थान है अर्थात् हृदयस्थ ईश्वर के साथ नित्ययुक्त अवस्थान है। माया का आवरण तब नहीं रहता। मुक्त पुरुष चिदाकाश में स्वच्छन्द विचरण करता है।

१८

विकास और प्रकाश (काल और क्षण) किसे कहते हैं ? समझा दीजिए।

हम काल के राज्य में वास करते हैं। परिणाम काल का धर्म है। प्राकृतिक सब वस्तुएँ काल के राज्य में अवस्थित हैं एवं परिणामशील हैं। परिणाम के क्रम अनुसार अतीत, अनागत और वर्तमान भेद से काल के तीन प्रकार के भेद माने जाते हैं। भविष्यत् से सृष्टि की धारा वर्तमान को भेद करके अतीत की दिशा में प्रवाहित होती है। यह जो स्रोत का प्रवाह है, यही काल का परिणाम सूचक है। यहाँ काल को बोलने से मैं खण्डकाल को लक्ष्य करता हूँ। आगमशास्त्र के अनुसार खण्डकाल के ऊर्ध्व में महाकाल भी है किन्तु उसमें कोई भी परिणाम नहीं है, महाकाल में समग्र विश्व प्रतिक्षण के सत्तारूप में अक्षतभाव में नित्य विद्यमान

रहता है। जिन्होंने सांख्य और पातंजल योग की धारा की पर्यालोचना की है, वे जानते हैं कि परिणाम प्रकृतिका धर्म है, एवं इसके साथ काल का नित्य सम्बन्ध रहता है। परिणाम दो प्रकार का है—सदृश परिणाम एवं विसदृश परिणाम। प्रकृति महाप्रलय के समय सदृश परिणामयुक्त रहती है एवं सृष्टि के समय प्रकृति में विसदृश परिणाम का उदय होता है। सदृश परिणाम में प्रकृति उत्पादन का कोई भी परिवर्तन नहीं होता। सत्त्व, रज, तम—यह तीन प्रकृति के उपादान हैं। सत्त्व सत्त्वरूप में, रज रजरूप में एवं तम तमरूप में स्पन्दित होते हैं।—इसका ही नाम सदृशपरिणाम है। इस परिणाम में तीन गुणों का परस्पर मिश्रण नहीं होता। सत्त्व सत्त्वरूप में ही परिणत होता है, रज रजरूप में ही परिणत होता है। तब भी वैसे ही। किन्तु विसदृश परिणाम में तीन गुणों के मध्य में मिश्रण होता है। और वैषम्य भी उत्पन्न होता है। इस मिश्रण के कारण कोई सत्त्वप्रधान और कोई रजप्रधान और कोई तमप्रधान होता रहता है। तीन गुणों के परस्पर मिश्रित होने में गुण सम्बन्धी तारतम्य ही इसका कारण है। कहना पर्याप्त है कि सृष्टि के उदय की अवस्था में ही काल का खेल रहता है। संहार अवस्था में सदृश परिणाम रहता है—यही प्रकृति की साम्यावस्था है। सृष्टि अवस्था में वैषम्य है। प्रकृति के गुण सम्बन्धी वैषम्य से वस्तु की सृष्टि होती है।

वस्तु जो भी कोई क्यों न हो, वह प्रकृति का धर्म है, प्रकृति उसकी धर्मी है। यह वैषम्यरूप परिणाम तीन प्रकार है। एक धर्म-सम्बन्धी, एक लक्षण-सम्बन्धी एवं एक अवस्था-सम्बन्धी। एक ही प्रकृति विभिन्न धर्मरूप में परिणत होती है, उसके कारण गुण-सम्बन्धी वैषम्य है। जो कोई भी धर्म लक्षण-परिणाम के कारण परिवर्तित होता है अर्थात् उससे कालसम्बन्धी परिणाम उद्भूत होता है। अर्थात् अनागत लक्षण से धर्म वर्तमान लक्षण में उपनीत होता है एवं वर्तमान से अतीत अथवा भूत अवस्था प्राप्त होती है। यही त्रिकाल परिणाम है, जिसका शास्त्रीय नाम लक्षण-परिणाम है। इन तीन परिणाम में, अतीत और अनागत के अन्तराल में विद्यमान लक्षण दो प्रकार के हैं। एक व्यापक और दूसरा क्षणिक। अर्थात् व्यापक विद्यमान कुछ दीर्घकाल अवलम्बन करके आत्मप्रकाश करता है किन्तु जो क्षणिक परिणाम है, वह केवल एक ही क्षणमात्र स्थायी होता है। इस क्षणिक परिणाम को अवस्था परिणाम कहते हैं। काल के राज्य में इस प्रकार का परिणाम नित्य घटता है। इस परिणाम के कारण सृष्टि की धारा में एक क्रम लक्षित होता है। अर्थात् पौर्वापर्य अथवा Sequence। काल का यही पौर्वापर्य सर्वत्र नित्य विद्यमान है। यह जो क्रम पौर्वापर्य है—यह काल का धर्म है। काल में जो कुछ प्रकाशमान हैं उसमें यह क्रम अवश्यम्भावीरूप में विद्यमान रहता है, किन्तु जिसको क्षण कहा गया है, उसमें कोई भी परिणाम नहीं। काल में क्रम है जिसके प्रभाव में विकास सम्पन्न होता है। जिसको हम क्रम विकास कहते हैं वह काल का

व्यापार है, क्योंकि काल को आश्रय न करके क्रमिक विकास सम्भव पर नहीं। क्षण एक और अखण्ड है। स्पन्दन के प्रभाव से उसमें क्रम आभासमान है एवं वह कालरूप में आत्मप्रकाश करता है। वस्तुतः क्षण एक से अधिक नहीं है। एक ही क्षण समस्त विश्व को प्रकाशित करता है किन्तु कालस्थित जीव एवं उसके मन और इन्द्रियाँ क्षण को ग्रहण नहीं कर सकते। काल को अतिक्रम करके स्थिति लाभ कर न सकने पर क्षण का सन्धान नहीं पाया जाता है। योगभाष्यकार व्यासदेव कहे हैं—

"एक एव क्षणः। तस्मिन् एकस्मिन् एव क्षणे सर्वं जगत् परिणामम् अनुभवति।"

एक मात्र क्षण ही है एवं उसी क्षण में ही समस्त विश्व का परिणाम संघटित होता है। क्षणज्ञान अति कठिन और अति दुर्लभ है, क्योंकि, जीव और उसकी इन्द्रियाँ आदि काल के अधीन हैं। मन भी काल अधीन है, तभी क्षण को ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु ध्यान रखना होगा कि जिसे हम क्रमविकास अथवा evolution कहते हैं, वह काल का धर्म है। क्रमविकास के बाद क्षण में आत्म-प्रकाश होता है, क्रम समाप्त न होने पर क्षण को नहीं पाया जाता। इस प्रसंग में योगी गण "गुणानां परिणामक्रमसमाप्तिः" कह के जिसका उल्लेख करते हैं, उसका स्मरण करना उचित है। गुणसकल का परिणाम क्रमसमाप्ति आपेक्षिक है। खण्ड दृष्टि से देखे जाने पर पाया जाता है कि गुण का परिणाम क्रमसमाप्ति ही विकास की पूर्णता है। परिणाम क्रमसमाप्त न होने पर प्रकाश का उदय नहीं होता। प्रकाश में परिणाम नहीं, क्रम भी नहीं। इसी लिए विकास पूर्ण न होने तक प्रकाश का साक्षात्कार नहीं होता।

विकास के मूल में बीज रहता है। बीज खेत में बोना होता है एवं नाना प्रकार के परिकर्म के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की सृष्टि करनी होती है। एक आम्रबीज भूगर्भ में रोपण किया जाता है, इसके बाद इस रोपित बीज का परि-कर्मरूप निमित्त आवश्यक है। भूमि को जल द्वारा सिक्त करके, सूर्यकिरण के, वायु के स्पर्श इत्यादि सहकारी कारणवर्ग जो भूगर्भस्थ बीज को अंकुरित करके विकसित करने के कारण हैं। बीज वपन का उद्देश्य वस्तु की उत्पत्ति होकर उसमें फल का आविर्भाव होता है। बीज के अंकुरागम से आरम्भ करके वृक्षरूप में मृत्तिका भेद करके, शाखा-प्रशाखा के रूप में विस्तार और फलस्वरूप में विकास, यह सभी बीज के क्रमविकास के अन्तर्गत है। बीज अवश्य वीर्यहीन न हो वह देखना होता है एवं मिट्टी भी उर्वर हो, वह भी देखना होता है। उसके बाद परि-कर्मरूप सहकारी कारणवर्ग भी प्रयोजन के अनुसार सहायक होता है वह भी देखना होता है। उसके बाद काल और ऋतु, यह भी विवेच्य हैं। यह सब कारण अधिकरण की समष्टि के सम्यक् सम्मेलन होने पर बीज वृक्षरूप में परिणत हुआ

फलरूप में आत्मप्रकाश करता ही करता है। यह जो फल है उसकी विभिन्न अवस्था भी अवश्य है। अपक्व अवस्था से सुपक्व अवस्था तक इसका क्रम है। यहाँ तक निष्पन्न होने पर बीज का जीवन सार्थक होता है। इसमें दो अवस्था अथवा स्थिति लक्ष्य करनी होती है। एक बीज से फलरूप में अभिव्यक्ति। इसका ही नाम 'विकास' है—यह क्रमशः होता है, तभी इसका नाम क्रमविकास है—वैज्ञानिक दृष्टि से evolution इसके बाद प्रकाशरूप में स्फुरण होता है। इस स्थल पर ही बीज के आत्म जीवन की परिसमाप्ति होती है। इसके बाद भी एक अवस्था है, उसकी बात बाद में कहूँगा।

इसमें विकास क्रम स्थिर होके गुप्तभाव में रहता है। मिट्टी के नीचे रहना—केवल यह जो गुप्तभाव है, वह नहीं, वृक्षादि में परिणत होने में भी गुप्तभाव रहता है। बीज का लक्ष्य फल है, वह पत्रपुष्पादि में गुप्तभाव में निहित रहता है। जब फलरूप में आत्मप्रकाश होता है और फल की परिपक्वता प्राप्त करता है, उसका ही नाम बीज का पूर्ण प्रकाश है। प्रकृति के राज्य में विकास से भिन्न प्रकाश नहीं होता है एवं प्रकाश को लक्ष्य करके ही विकास की सार्थकता है। यह जो विकास है। यही काल है—जगत् का धर्म। उद्देश्य है, प्रकाश को प्राप्त होना किन्तु प्रकाश काल के अतीत है। ध्यान रहे, विकास के अतिरिक्त भी प्रकाश है, फिर भी वह कालातीत जगत् का व्यापार है। काल के जगत् में एवं प्रकृति के जगत् में विकास को अवलम्बन करके ही प्रकाश को पाना होता है, किन्तु प्रकाश नित्य सिद्ध है। परमेश्वर के अनुग्रह से कालातीत क्षण को अनुभव करने पर समझा जाता है कि वहाँ अनन्त प्रकाश रहता है। सभी विकास निरपेक्ष, स्वयं प्रकाश है।

गुरु जो मन्त्र देते हैं वह बीजरूप है। यह शिष्य हृदयरूपी क्षेत्र में बोना होता है। इसमें बीज शक्ति अथवा वीर्य रहता है। यह शिष्य के परिकर्म द्वारा धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होता है। सुदीर्घ समय में हो, अल्प समय में हो, विकास पूर्ण होने के साथ-साथ वह इष्टदेवता के रूप में अभिव्यक्त होता है। अर्थात् बीज ही तब फलरूप में अभिव्यक्त होता है। काल के जगत् से कालातीत में प्रकाशमान होता है। काल के जगत् में बीज भिन्न प्रकाश नहीं होता किन्तु प्रकाश वस्तु के स्वभावसिद्ध भाव में बीजसापेक्ष नहीं है। कालातीत महासत्ता के भीतर निर्बीज प्रकाश अखण्ड भाव से विद्यमान रहता है। लेकिन काल के मध्य में प्रकाश की अभिव्यक्ति होने पर बीज को अवलम्बन करके क्रमविकास के मध्य में ही वह सम्भव पर है। तभी कालातीत सत्ता अपना स्वातन्त्र्य कहकर जब आत्मप्रकाश करती है तब बीज की अपेक्षा नहीं रहती। और एक दिशा है वह भी आलोच्य है। बीज से जिस प्रकार फल होता है। उसी प्रकार पुनः फल से भी बीज होता है। फल से यदि बीज न हो तो विश्वकल्याण सम्भवपर नहीं है। बीज से फल का आविर्भाव होता है एवं फल से पुनः बीज का आविर्भाव होता है, किन्तु इस प्रकार

का बीज है जिससे फल का आविर्भाव नहीं होता। साथ-साथ इस प्रकार का फल भी है अर्थात् प्रकाश है जिससे बीज का आविर्भाव नहीं होता।

अध्यात्मविज्ञान के अनुशीलन करने पर देखने में पाया जाता है कि साधारण दृष्टि से सिद्धपुरुष तीन प्रकार के हैं। साधना द्वारा सिद्धिलाभ होता है—इस जातीय सिद्ध पुरुष को साधनसिद्ध कहा जाता है। हमने पहले जो विकास और प्रकाश के परस्पर सम्बन्ध की बात कही थी। उससे स्पष्ट समझा जाता है कि यही साधनसिद्ध की अवस्था है। साधना के फलस्वरूप जो सिद्धलाभ होता है, वही साधनसिद्धि है। साधना के द्वारा विकास सम्पूर्ण होता है एवं विकास पूर्ण होने पर प्रकाश रूप में सिद्धावस्था का उदय होता है। इस प्रसंग में ध्यान रखना होगा कि जिस प्रकार साधना के द्वारा सिद्धिलाभ होता है, उसी प्रकार कृपा के द्वारा भी सिद्धिलाभ हो सकता है।

साधनसिद्ध और कृपासिद्ध दोनों प्रकार के साधक विकास के मध्य में प्रकाश को प्राप्त होते हैं। दोनों में यही पार्थक्य है कि साधनसिद्ध पुरुष अपने व्यक्तिगत पुरुषकार के द्वारा क्रमशः विकास को प्राप्त करते हैं, यदि पुरुषकार के साथ-साथ किंचित् परिमाण में भगवत्कृपा रूप देव भी विद्यमान रहता है, तथापि इस साधनमार्ग में पुरुषकार का ही प्राधान्य है, कृपा का नहीं। पक्षान्तर में जो सकल साधक कृपा के प्रभाव में साधन-जगत् भेद करके सिद्धावस्था लाभ करते हैं, उसी क्षेत्र में भी कृपा का प्राधान्य रहने पर भी किंचित् परिमाण में पुरुषकार अवश्यम्भावी है। पक्षी जिस प्रकार एक पक्ष के द्वारा आकाश में उड़ नहीं सकते, उसी प्रकार कोई भी कर्म केवल पुरुषकार के द्वारा अथवा केवल दैव अथवा कृपा द्वारा नहीं होता लेकिन प्राधान्य के अनुसार नामकरण होता रहता है। सुतरां कृपासिद्ध और साधनसिद्ध दोनों में दोनों भाव हैं।

यह दोनों प्रकार के साधक जिस प्रकार भी हो विकास के मार्ग का अवलम्बन करके क्रम अतिवाहित करते हैं। तब भी यह बात सत्य है कि कृपा के क्षेत्र में यह क्रम अति सामान्य हो सकता है, अवस्था विशेष में नहीं भी हो सकता है। नहीं होने पर भी क्रममार्ग भेद अवश्य ही होता रहता है।

इस प्रकार दोनों प्रकार से सिद्धपुरुष की बात कहनी हुई। यह दोनों ही काल के राज्य में वास करते हैं एवं सिद्धिलाभ करके काल को अतिक्रमण करके कालातीत में वास करते हैं। किन्तु इस प्रकार के सिद्धपुरुष भी हैं जो काल को अतिक्रमण नहीं करते एवं कृपा नहीं प्राप्त करते। यह दोनों प्रकार के सिद्धपुरुष ही सादिसिद्ध है किन्तु ऐसे सिद्धपुरुष हैं जो अनादिसिद्ध हैं। इस दिशा के अनादिसिद्ध कहे जाते हैं—यह किसी समय भी सृष्टि के भीतर असिद्ध नहीं थे। सृष्टि के साथ-साथ यह सिद्धरूप में ही आविर्भूत होते हैं। इनके मूल में साधना तो नहीं ही है, कृपा भी नहीं है—यह नित्य सिद्ध है। हमारे प्राचीन अध्यात्म साहित्य में इन्हें

दिव्यसूरि अथवा सूरि कहते है। वेद में इन सकल सूरियों का उल्लेख हैं। इनके सम्बन्ध में कहा गया है—

"तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।"

अर्थात् विष्णु का जो परमपद है एवं जिसको परम व्योम कहते हैं, वही श्रीभगवान् का परमस्वरूप है। यह सब सूरि अथवा नित्यमुक्त ज्ञानी भक्त निरन्तर दर्शन करते रहते हैं—"सदा पश्यन्ति", इसलिए इन्हें अनादिसिद्ध अथवा अनादिमुक्त कहा जाता है। ख्रिस्तधर्म में angel में भी यह स्तर है।

पहले के विवरण से समझा जा सकता है कि काल के राज्य और कालातीत राज्य, इनमें कोई शून्य नहीं। काल के राज्य से परमज्ञानभक्ति के प्रभाव में कालातीत राज्य में संचार होता है, एवं कालातीत राज्य में अनादिकाल से ही बहुत सत्ता रही है। क्षण और काल के रहस्य आलोचना के प्रसंग में भी बोला जा सकता है कि नित्य साकार मूर्ति क्रमहीन कह के विकासहीन प्रकाशस्वरूप है। वहाँ कोई दिव्यरूप नित्य बालमूर्ति, कोई दिव्यरूप नित्यकिशोर पुनः कोई मूर्ति नित्यौवनसम्पन्न इत्यादि है। यह सब बाल्य यौवनादि अवस्था काल के अन्तर्गत नहीं है। यह दो प्रकार की है—अनादि और सादि, किन्तु दोनों ही जगह काल के क्रम से विवर्जित हैं। जहाँ अनादि किशोर अथवा अनादि यौवन है वहाँ भी पूर्ववर्त्ती कालावस्था की अपेक्षा नहीं है। काल से इस अंश में कालातीत में गंभीर भेद विद्यमान रहा है।

काल में प्रत्येक अवस्था क्रमसिद्ध है किन्तु कालातीत नित्यसिद्ध है। वहाँ जो बालक हैं, वे सर्वदा ही बालक हैं, पहले भी बालक, बाद में भी बालक। जो युवक है, वह सर्वदा ही युवक हैं। पूर्वापर भेद नहीं है। कालातीत कहने से काल का क्रम वहाँ काम नहीं करता। और एक बात भी अत्यन्त रहस्यमय है। मनुष्य काल के जगत् में साधना करते-करते जिस अवस्था में सिद्धिलाभ करते हैं, यदि वह वास्तविक सिद्धि है एवं कालातीत स्थिति है, वैसा होने पर वह अवस्था अथवा स्थिति स्थायी हो जाती है। कालातीत स्वरूप में उनकी इस अवस्था की स्थिति ही परिवर्तनहीन हुई नित्यत्व प्राप्त करती है। अर्थात् एक मनुष्य ३० साल का यदि सिद्धिलाभ करें एवं सिद्धिलाभ करने के बाद भी यदि वृद्धावस्था में वह जीवित रहे वैसा होने पर भी नित्यावस्था में ये ३० साल उसके स्थिर रूप हो जाते हैं इसके अनेक रहस्य हैं, यहाँ उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है।

१९

गायत्री मन्त्र का अर्थ क्या है एवं उसका रहस्य क्या है ?

गायत्री कहने से मैं ब्रह्म गायत्री को लक्ष्य करता हूँ। ध्यान रखना होगा कि इस ब्रह्म-गायत्री को आधार करके विभिन्न देव-देवियों की गायत्री भी तन्त्र-शास्त्र में वर्णन की हुई है। उससे जाना जा सकता है कि गायत्री में तीन अंश हैं—विद्महे, धीमहि, प्रचोदयात्। सर्वप्रथम इन पर प्रकाश डालकर बाद में अन्य बात बोलूंगा।

'विद्महे' का अर्थ वेदन ज्ञान है, 'धीमहि' का अर्थ ध्यान अथवा योग है, 'प्रचोदयात्' यहां भक्ति है। पहले महाशक्ति को ज्ञान के पथ से ग्रहण करना होगा, यही विद्महे है। यह अति दुर्निरीक्ष्य महाज्ञान स्वरूप है। उसके बाद उसको और भी निकट जान के ध्यान का विषयभूत करना होगा। यह योग की अवस्था है। ध्यान के समय उसको ध्येयरूप में अपने में प्रकाशमान देखने में पाया जाता है। किन्तु उसे और भी निकट ला सकने पर सन्निकर्ष और भी अधिक होता है। यह भक्ति की साधना है। तब यह निकट में प्राप्त महाशक्ति उपासक के हृदय में प्रकाशमान होती है। तब देखने में पाया जाता है कि मायाग्रन्थि के द्वारा यह विश्व संसार रचित है, उसी माया की संचालक स्वयं महाशक्ति है। इस अवस्था में वह समस्त शक्तिवर्ग को अपने अधीन करके संचालन करती हैं। इस सकल शक्ति में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति हैं। तब भक्त अथवा उपासक उनको आत्म-समर्पण करके उनके निकट प्रार्थना करते हैं, वह जिससे उनको ज्ञान की धारा से अथवा कर्म की धारा से सत्पथ में संचालित करते हैं। यही धियो यो नः प्रचोदयात् का तात्पर्य है। मोटी बात, ज्ञान, योग, भक्ति, शरणागति इत्यादि का सहारा लेकर उसी परम शक्ति की शुद्ध ज्ञान को धारा में एवं कर्म की धारा में संचालित करे।

ब्रह्मगायत्री जप करने पर इस मन्त्र के अवयव विशेषभाव में धारणा में रखने होंगे। सर्वप्रथम प्रणव, प्रणव के बाद व्याहृति, व्याहृति के बाद मूलमन्त्र, उसके बाद पुनः प्रणव, उसके बाद भी कुछ है, आपाततः उसका प्रयोजन नहीं है। प्रणव है परमेश्वर का वाचक। पतंजलि ने योगसूत्र में कहा है 'तस्य वाचकः प्रणवः'। प्रणव में अवश्य विभाग हैं। अकार, उकार, मकार, यह तीन मुख्य अवयव हैं। तीनों मूल देवता के अथवा परम देवता के वाचक हैं। "अकारः विष्णु-रुद्दिष्टः उकारः स महेश्वरः मकारेण उच्यते ब्रह्म"—यह सम्प्रदाय विशेष का मत है। अन्य प्रकार भी इसको समझा जाता है। उससे तात्त्विक स्वरूप निर्वचन में कोई बाधा नहीं होती। यह अकार, उकार और मकार, इसके ऊपर अर्धचन्द्र और बिन्दु रहते हैं, जिसको साधारणतः नाद, बिन्दु बोला जाता है।

गायत्री ब्रह्मोपासना है, वास्तविक पक्ष में यह महाशक्ति की उपासना है। भर्ग बोलने से तेजोमय शक्ति को समझना है। किन्तु परब्रह्म की अनन्त शक्ति है। सब शक्ति ध्यान का विषयभूत नहीं हो सकती। वरेण्य भर्ग के द्वारा समझा जाता है कि—शक्ति वरणीय है, ग्राह्य अथवा उपादेय है, उसका ही ध्यान करना होगा। जो जीव के लिए कल्याणप्रद है, जिसका ध्यान करने पर परम शान्ति, आनन्द और शक्ति का विकास होता है, वहीं वरेण्य है। यह हुई ध्यान की प्रक्रिया। ज्ञान के द्वारा स्वरूप को ग्रहण करना होगा। ध्यान के द्वारा उसकी शक्ति को ग्रहण करना होगा—उसके बाद अर्थात् ध्यान द्वारा भगवत्शक्ति अपने में एकाग्रीभूत होने पर उसको चारों दिशाओं से हृदय में ला के बिठाना होगा। यह ध्यान अथवा योग के बाद भक्ति की अवस्था का पूर्वाभास है। हृदय में समागत होने पर देखने में पाया जाता है कि माया का अधिष्ठाता ईश्वरतत्त्व वहाँ प्रकाशमान रहता है। उन्होंने मायातत्त्व के द्वारा समस्त शक्ति को आच्छादन करके रखा है। ज्ञान एवं कर्म इन दोनों मार्गों में ज्ञान संचालिका शक्ति है। हम ज्ञानेन्द्रिय द्वारा कर्म की दिशा में प्रेरित होते हैं। माया का अधिष्ठाता ईश्वर है, जो हृदय में अधिष्ठित रहते हैं। माया की अनन्त रश्मियाँ हैं—यह सकल रश्मियाँ हमें ज्ञान के पथ में और कर्म के पथ में सञ्चालित करती हैं। जिससे सुषुम्ना मार्ग में सञ्चालित हों उसके लिए माया के अधिष्ठाता ईश्वर के निकट प्रार्थना है। हृदयस्थ ईश्वर जिससे हमारी ज्ञानरश्मि और क्रियारश्मि को सत्पथ पर सञ्चालित करे। जीव नट-पुत्तलिका के समान है। ईश्वर सूत्रधार है। वे हृदय में अवस्थित रहकर अनन्त माया रश्मि द्वारा समस्त जीवों का सञ्चालन करते हैं। हम उनके द्वारा ज्ञान और कर्म की दिशा में सत्पथ पर सञ्चालित हों, यही प्रार्थना है। 'प्रचोदयात्' शब्द का अर्थ प्रेरित करना है अर्थात् ईश्वर जिसे हमें सत्य, ज्ञान एवं शुभ कर्म की दिशा में शक्ति के द्वारा सञ्चालन करे, यही प्रार्थना है। व्यापक दृष्टि से देखे जाने पर यही मनुष्य की स्वाभाविक प्रार्थना है। इसमें ज्ञान, योग और शरणागति अन्तर्गत रहते हैं। इस प्रसंग में ध्यान रखना होगा कि यह जो प्रार्थना अर्थात् गायत्री रूप प्रार्थना है, इसमें सर्वत्र ही बहुवचन का प्रयोग रहता है—इसका भी तात्पर्य है। इसका तात्पर्य है, प्रार्थना एक जन की होने पर भी वह समष्टि के प्रत्येक के लिए उद्दिष्ट होती है अर्थात् प्रार्थना व्यक्तिगत भाव में व्यष्टि के लिए नहीं की जाती, की जाती है समष्टि के लिए।

वही जो वस्तु जिसको सविता कहा जाता है, उसका स्वरूप यही है कि वही विश्व का प्रसवकर्त्ता है, यह भाव मन में रखना होगा। इसलिए उसके पहले ही प्रणव अथवा ऊँकार एवं व्याहृति है। प्रणव परमेश्वर का वाचक है, यह सर्व-शास्त्रसम्मत है। प्रणव में अकार, उकार एवं मकार यह तीन मातृकाएँ रहती हैं। उसके ऊपर नाद बिन्दु रूप में अर्धचन्द्र रहता है। अकार, उकार, मकार—

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के वाचक हैं। अकारः विष्णुरुद्दिष्टः उकारः स महेश्वरः, मकारेण उच्यते ब्रह्म। सम्प्रदाय विशेष में इन तीन नामों का तारतम्य होने पर भी उसका कुछ महत्त्व नहीं है।

ऊपर नाद, बिन्दु अर्धचन्द्राकार में प्रकाश पाते हैं, इसका विस्तारित विवरण यहां देना आवश्यक है। तब भी समझना होगा कि नाद बिन्दु के साथ प्रणव, जगत् के मूल तत्त्व का निर्देश करके रहता है। अर्धमात्रा का प्रश्न यहाँ नहीं उठाओ। ऊँकार के बाद व्याहृति का उच्चारण करना होता है, व्याहृति विश्व का द्योतक है अर्थात् ऊँकार अथवा प्रणव से ही समग्र विश्व उत्पन्न होता है। यह समग्र विश्व संक्षेप में समझा के कहता हूँ। इस को ही त्रिलोकी अथवा सप्तलोकी कहा जाता है—भूः, भुवः एवं स्वः। भूः बोलने से भू-लोक समझना होगा। इसमें सर्वप्रथम यह भूमि अर्थात् सप्तद्वीपा वसुमती रहती है, जिसमें भिन्न-भिन्न द्वीप और भिन्न-भिन्न समुद्र विद्यमान रहते हैं। इसका ही नाम भूतल है। इसके अव्यवहित नीचे सप्तपाताल रहता है—वहाँ भी जीव का निवास है—नागलोक इत्यादि वहाँ ही है। पाताल के नीचे है नरक। मुख्य-मुख्य ८४ नरक जहाँ हैं, वहाँ जीव रहते हैं। स्थान अग्निमय है। नरक का विस्तारित विवरण पुराणादि में है। इन सब नरकों के सबसे नीचे अवीचि नाम का एक स्थान है, यही भूमण्डल का निम्नतम स्थान है—यहाँ सूर्य की रश्मियाँ प्रवेश नहीं करतीं। जो भी हो, इस सबको लेके भूलोक है। उसके ऊपर है अन्तरिक्ष। अन्तरिक्ष में नाना प्रकार के ग्रह, उपग्रह आदि संचरण करते हैं। यह एक प्रकार का वायुमंडल है। विभिन्न प्रकार के वायु का खेल होता है। प्रवाह, निवाह, संवाह इत्यादि प्रत्येक वायु की क्रिया भिन्न-भिन्न है। अन्तरिक्ष के ऊपर स्वर्ग है—स्वः—यह स्वर्ग दो प्रकार विभक्त है। एक ऊर्ध्व स्वर्ग दूसरा अधः स्वर्ग। जो अधः स्वर्ग है वह भोग का स्थान है। इसी अधः स्वर्ग के अधिष्ठाता को इन्द्र कहते हैं। पुण्यवान लोग सकाम होने से मृत्यु के बाद इस इन्द्र की अमरावती में अपने योग्य स्थान पर लिए जाते हैं एवं दीर्घकाल वहाँ नाना प्रकार का आनन्द, ऐश्वर्य भोग करते हैं एवं उस के बाद भोग के द्वारा पुण्य क्षय होने पर पुनः भूलोक में जन्म ग्रहण करते हैं। ज्ञानी इस स्थान पर कभी भी नहीं आते हैं। इसका ही नाम अधः स्वर्ग है। इसके बाद है ऊर्ध्व स्वर्ग अर्थात् महलोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक। सकाम पुण्यवान पुरुष वहां जा नहीं सकते। ऊर्ध्व स्वर्ग में ज्ञान कर्म समुच्चययुक्त पुरुष जा सकते हैं। विशुद्ध ज्ञान रहने पर ऊर्ध्व स्वर्ग में भी नहीं जाते। जो जहां रहता है वहीं ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश करता है। किन्तु ज्ञान-कर्म का समुच्चय रहने पर इस ऊर्ध्व स्वर्ग में गति होती है। ज्ञानयुक्त कर्म का अंश प्रवल रहने पर इस स्वर्ग के नीचे रहता है—ज्ञान का अंश प्रबल होने पर इस ऊर्ध्व स्वर्ग के ऊपर रहता है। सबके ऊपर सत्यलोक है—यह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है। जब तक महाप्रलय नहीं

होता, तब तक सत्यलोक का ध्वंस नहीं होता। सत्यलोक का ही दूसरा नाम ब्रह्म लोक है। महाप्रलय में सत्यलोक भी नहीं रहता, एकमात्र परब्रह्म रहता है।

यह जो तीन व्याहृतियां अथवा सप्त व्याहृतियाँ हैं, इनका आविर्भाव होता है ऊँकार से। ऊँकार ही शब्द ब्रह्म है। अतएव गायत्री मन्त्र में कहा हुआ है, ऊँकार अथवा शब्द ब्रह्म से सप्तलोक का आविर्भाव होता है। मूल में यही सवितृ-स्वरूप है। यह स्वरूप मन ही मन ध्यान करने से पूर्ववर्णित प्रार्थना करनी होती है अर्थात् समग्र विश्व के जो आदि शक्तिसम्पन्न परम पुरुष हैं, वे ही क्रमशः हमारे अन्तर्मुख होते-होते हमारे भीतर युक्त होते हैं और उसके बाद बहिः प्रदेश में समागत हुए हृदय में माया-सञ्चालक ईश्वर के रूप में आविर्भूत होते हैं, जिनके निकट मैं पूर्णरूप में आत्म-समर्पण करने में समर्थ हो जाऊँ, जिसके फलस्वरूप वे मुझे शुद्ध ज्ञान के पथ पर और शुद्ध कर्म के पथ पर सञ्चालित करते हैं। यह प्रार्थना करने के बाद पुनः अपने को उसी प्रणव में अन्तर्लीन करना होगा।

२०

आत्मदर्शन साकार है अथवा निराकार ?

सर्वप्रथम ज्योति-दर्शन का अभ्यास करना होता है। यह ज्योति शुद्ध ज्योति है—जगत् का आलोक नहीं। नवोदित सूर्य का रूप देख के ही हो अथवा अन्य किसी प्रकार ही हो, अपने ललाट में ज्योति की स्थिति-कल्पना के द्वारा अनुभव करने की चेष्टा करो। अखण्डमण्डलाकार, स्निग्ध, शुद्ध ज्योति की भ्रूमध्य में चिन्ता करो। यह कल्पित ज्योति है, इसमें सन्देह नहीं। यदि सिद्ध गुरु से प्राप्त मन्त्र की क्रिया से ध्यान के प्रभाव में एवं जप के प्रभाव में ज्योति का अनुभव हो तो अच्छा ही है, नहीं तो कल्पना के द्वारा ज्योति की चिन्ता करे। वास्तविक पक्ष में षट्चक्र के ऊर्ध्व में उठने पर भ्रूमध्य में विशुद्ध ज्योति रूप में स्थित होती है—यही एकाग्र भूमि है, यही उपासना का अन्तिम लक्ष्य है—यही ज्ञान के विकास की सूचना है—यही प्रज्ञा ज्योति है, दिव्यचक्षु नाम से परिचित है। यदि स्वाभाविक यही ज्योति स्फुरित होती है तो अच्छा ही है, क्योंकि जप के द्वारा एवं मनन के द्वारा अन्तराकाश में इस ज्योति का उदय होता है, तब वैखरी वाक् नाद के मध्य में प्रकाश रूप में परिणत होती है। अन्तराकाश तब चिदालोक में आलोकित हो जाता है—यही कुलकुण्डलिनी की स्फुरण दशा है। यह ज्योति जिस किसी प्रकार से हो, प्राप्त होना आवश्यक है। तब इसकी स्थिति भ्रूमध्य में होके रहती है। यदि स्वाभाविक उपाय से यह समुदित न हो तब कल्पना के द्वारा भी अनेक फल

प्राप्त किये जाते हैं। ज्योति दर्शन पहली अवस्था है। अपनी सत्ता में ज्योति अङ्गीभूतरूप में स्फुरित होने पर क्रमशः चिदाकाश का प्रकाश होता है। ज्योति जप के द्वारा न पाने पर मनन के द्वारा नवोदित सूर्य का ध्यान करके प्राप्त होने की चेष्टा करनी होती है। जब भ्रूमध्य ज्योतिर्मय हो जाए तब खूब उच्चावस्था प्राप्त हुई है, समझना होगा। इस अवस्था में वैखरी वाक् अर्थात्—अ, आ, क, ख इत्यादि नहीं रहता—सब एकाकार हो जाता है एवं इसके परिणामस्वरूप वैखरी के प्रभाव में अहंभाव, जो इतने दिन देहात्मबोध रूप में था, वह कट जाता है। व्यावहारिक भूमि में इसी बोध का आश्रय लेकर ही कार्य होता है। किन्तु ज्योति भ्रूमध्य में प्रतिष्ठित होने पर देहात्मबोध नहीं रहता—इड़ा पिङ्गला की क्रिया सरल भाव में परिणत होती है। एकमात्र सुषुम्ना की सरलगति ऊर्ध्व दिशा में चलती रहती है। इस अवस्था में द्रष्टा देह को भूल जाता है, तब यह ज्योति में अपना स्वरूप अर्थात् अपना मुख देख पाता है। तब समझ सकता है यही 'मैं' का स्वरूप है। यह 'मेरा' ही रूप है। अपने मुख से आरम्भ करके समग्र शरीर प्रकाश पाता है एवं समझ सकता है, यही आत्मदर्शन है। तब इस स्वरूप के भीतर मैं अन्तः प्रवेश करता है—तब समग्र विश्व उसके निकट प्रकट होता है। समग्र विश्व अनन्त रूप सम्पन्न है किन्तु साकार है। तब समझा जाता है इस आत्मदर्शन में ही विश्वदर्शन पूर्ण हो जाता है। उसके बाद उच्च अधिकारी विश्वातीत अवस्था में उपनीत होता है। तब विश्वदर्शन नहीं रहता। तब जो दर्शन होता है वही निज स्वरूप का दर्शन है। स्वरूप के दर्शन का अर्थ स्वयं प्रकाशस्वरूप हो जाना है—तब पुनः साकार निराकार का प्रश्न नहीं उठता। यही निराकार का दर्शन है। यही दर्शन स्वयं प्रकाश चैतन्य का आत्म-साक्षात्कार है। यह कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह अपनी एक स्वयं प्रकाश अवस्था है। यही ब्रह्मस्वरूप है इसका कोई वर्णन है। यह सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप है। यही आत्मा है। फलतः आत्मदर्शन एक हिसाब से साकार भाव में होता है, दूसरे हिसाब से निराकार भाव होता है, दोनों ही सत्य है। साकार आत्मदर्शन होने पर उसी में विश्वदर्शन हो सकता है। यह स्वयं-प्रकाश ब्रह्मसाक्षात्कार की पूर्वावस्था है। दिव्य चक्षु के प्रभाव से अर्थात् भ्रूमध्यस्थ चैतन्यमय ज्योति के प्रभाव में समग्र विश्व को अपने में देखा जाता है। इस अवस्था में. साधक का साधारण निज बोध नहीं रहता। यह जो स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूप है, इसमें अनन्त देश काल एवं शक्ति की क्रिया विद्यमान रहती है। पुनः शक्ति का संकोच होने पर अथवा शक्ति के संकोच करने पर यह सब कुछ भी नहीं रहता—एक स्वयं प्रकाश सत्ता ही रहती है, वही आत्मा अथवा ब्रह्म है। वहाँ साकार निराकार का प्रश्न उठता नहीं, क्योंकि यह कल्पना के अतीत है। आत्मस्वरूप के विकास की आलोचना यहाँ नहीं करता हूँ क्योंकि वह अखण्ड वस्तु है। विकास होता है शक्ति का—शक्ति के सम्बन्ध के एवं क्रिया के तारतम्य के

कारण विकास की कल्पना जाग उठती है। वस्तुतः आत्मा अपने में असंख्य अवस्था अनुभव कर सकता है। किन्तु स्वरूपतः यह जो है वही है।

२१

भ्रूमध्य में ज्योति चिन्ता का क्या प्रयोजन है ?

ध्यान में रखो साधारणतः मनुष्य क्षिप्त और मूढ भाव में रहता है, उसके लिए किसी प्रकार के साधना की चर्चा आवश्यक नहीं है। किन्तु जिनका चित्त विक्षिप्त हो अर्थात् समय-समय पर सत्त्वगुण के आवेश के प्रभाव से अन्तर्मुखी होता है, लेकिन रहता नहीं, उनके लिए साधना की चेष्टा आवश्यक है। इस चेष्टा के फलस्वरूप चित्त एकाग्रभूमि पर उठता है एवं वहाँ स्थित होके कार्य करता है। एकाग्रभूमि में उठने पर चित्त की विक्षिप्तता नहीं रहती। तब एक लक्ष्य में निविष्ट होता है। निविष्ट होने के फलस्वरूप लक्ष्य वस्तु का प्रकाश होता रहता है।

प्रश्न—एकाग्र अवस्था क्या ज्योति के उदय के साथ किसी प्रकार सम्बन्धयुक्त है ?

उत्तर—निश्चय ही।

एकाग्र अवस्था का उदय न होने पर ज्योति का उदय हो नहीं सकता। बिखरी सत्ता को समेटने से तब ज्योति का उदय होता है। ज्योति का उदय होने पर अव्यक्त अप्रकाशित सत्त्व प्रकाशित होता है। यह जो ज्योति का उदय है पहले सामयिक भाव में होता रहता है। परिणामतः फलाफल भी सामयिक भाव में होता है। किन्तु जब ज्योति स्थायी भाव में प्रकाश पाती है तब सत्य जो निगूढ़ था, क्रमशः प्रकाशित होना आरम्भ होता हैं।

प्रश्न—इसका उत्तरोत्तर क्रम क्या है ? एवं इस प्रकार चलने पर सहज में क्या उपाय करना होता है, वह बोलिए ?

उत्तर—यह जो पहले बोला गया, उस सम्बन्ध में ध्यान में रखो कि एकाग्रभूमि के बाद निरोध भूमि अवश्यम्भावी है। एकाग्रभूमि में सत्य का उदय होने पर उसके बाद निरोध आवश्यक है। यह जो ज्योति का उदय है, यही प्रज्ञा अथवा ज्ञान का उद्देश्य ज्ञेय को प्रकाशित करना है। ज्ञेय प्रकाशित होने पर आकांक्षा की निवृत्ति होती है और अज्ञान की क्रिया उपशम को प्राप्त होती है। उसके बाद निरोध स्वतः ही विकसित होता है। किन्तु एकाग्रभूमि का अतिक्रम न करने से निरोध में प्रवेश करना समीचीन नहीं।

प्रश्न—यह किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर—सम्भव इसलिए है कि जिसका आधार शुद्ध नहीं, उसका चित्त प्रकृति में लीन होके रहता है। यह प्रकृति-लीन अवस्था भी असम्प्रज्ञात अवस्था के अन्तर्गत है। किन्तु यह योग नहीं है, योग की अवस्था भी असम्प्रज्ञात है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह सम्प्रज्ञात की परवर्ती अवस्था है। ज्ञान का उदय होने से ज्ञान का निरोध होता है—उससे अज्ञान की निवृत्ति एवं उपशम की प्राप्ति होती है। किन्तु प्रकृति-लयावस्था जड़त्व है, उससे अज्ञान निवृत्ति की कोई सम्भावना नहीं है।

प्रश्न—वैसा होने पर ज्ञान का उदय अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए किसी विशेष क्रिया अथवा प्रक्रिया की उपयोगिता है क्या ?

उत्तर—इस सम्बन्ध में बहुत-सी कथा बोलने के लिए है। धैर्य के साथ क्रमशः सुनते रहो। साधारणतः सब मनुष्यों का चित्त चञ्चल है। यह चञ्चलता विक्षेप से होती रहती है। वस्तुतः लय और विक्षेप ये दो योग पथ के अन्तराय हैं। जो जिस प्रकार साधना करें, साधनकाल में भ्रूमध्य में अथवा दोनों भौंहों के कुछ ऊपर ज्योति की चिन्ता करने पर साधना के पथ में अनेक उपकार प्राप्त होते हैं। यह ज्योति शुद्ध ज्योति होनी आवश्यक है। इसीलिए योगीगण नवोदित सूर्य को चिन्ता का विषय कहकर ग्रहण करने के लिए कहे हैं। नवोदित सूर्य का अखण्ड मण्डलाकार रूप चिन्ता का विषयभूत होना उचित है। प्राचीनकाल में योगीगण का भ्रूमध्य में बिन्दु धारण करने का यही उद्देश्य था। यह बिन्दु ज्योतिर्मय बिन्दु है। प्रतिदिन निज-निज साधन व्यापार सम्पन्न करने के बाद यह ज्योतिर्मय बिन्दु चिन्तन करना अत्यन्त आवश्यक है। केवल उतनी ही नहीं, दिन के अथवा रात्रि के विभिन्न समय, जाग्रत् अवस्था आवश्यक है। तुम कह सकते हो यह कल्पित बिन्दु है। यह सत्य है। किन्तु कल्पित होने पर भी यह सत्य है—यह सवितृज्योति है। गायत्री मन्त्र की साधना से भी यह रहस्य परिस्फुट रहता है। वह समयान्तर में प्रकाश करके बोलूंगा। यह शुद्ध ज्योति चिन्ता करते-करते अर्थात् मन ही मन निरन्तर दर्शन करते-करते एकाग्रभूमि में क्रमशः प्रतिष्ठित होती है।

यहाँ पर एक विषय मन में रखो। यह जो मनुष्य के चित्त का विक्षेप होता है इसके मूल में है विकल्प का खेल। यह सब विकल्प देखे जाने पर दो प्रकार का है—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध विकल्प का त्याग करने से शुद्ध विकल्प में स्थिति ग्रहण करनी होती है। उसके बाद शुद्ध विकल्प भी निर्विकल्प परम पद में लीन हो जाता हैं। यह शुद्ध विकल्प की अवस्था ही कर्म, ज्ञान एवं भक्ति नाना प्रकार के योग का परम लक्ष्य है। मातृका से भाषा की उत्पत्ति होती है एवं सब प्रकार के लौकिक चिन्ता का प्रवाह प्रसृत होता है। भाषाज्ञान ही विकल्पज्ञान है—निर्विकल्प पद में भाषा नहीं है। शुद्ध विकल्प में से निर्विकल्प में उपनीत होना

होता है। मातृका वर्णसमष्टि है। यह सब वर्ण भाषा के अङ्गीभूत हैं। संस्कृत ही नहीं, जगत् की जितनी भाषाएँ हैं, मातृका से उद्भूत होती हैं। यह सब मातृका अथवा वर्ण जिस क्षण तक विगलित नहीं होता, उस क्षण पर्यन्त उनका स्वभाव ही विकल्प उत्पादन करना है। विकल्प अर्थात् विक्षेप। यह सब मातृकाएँ जितने दिन क्रियाशील रहती है उतने दिन चित्त विक्षिप्त रहता है—एकाग्रभूमि में प्रवेश नहीं कर सकता। प्राचीन आचार्यगण—इस सब मातृका को विगलित करके, बिन्दु में अर्थात् बिन्दुरूप में परिणत करने का उपदेश देते हैं। जिस प्रकार सोने के एक पिण्ड को टुकड़े-टुकड़े करके नाना प्रकार और नाना आकार के अलङ्कारों में परिणत करना होता है, उसी प्रकार एक बिन्दु अथवा महाबिन्दु विभिन्न मातृका रूप में आत्मप्रकाश करता है। विक्षिप्त अवस्था में इससे देश काल का कोई प्रश्न नहीं है। यह अनादि काल से होता रहता है। फलतः जो कोई प्रक्रिया अवलम्बन करके हो, इसको विगलित करना होता है। मातृका के गल जाने पर निर्विकल्प अवस्था के उदय में सहायता होती है। हम षट्चक्र की साधना करते रहते हैं। उसका एकमात्र उद्देश्य मातृका को गला के एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित होना है। मूलाधार से आज्ञाचक्र तक जो सकल चक्र हैं, सब मातृका द्वारा रचित हैं। इस मातृका की रचना की क्रिया में सब चक्र ही अल्पाधिक सहायता करते हैं एवं इड़ा पिङ्गला की वक्रगति इस क्रिया में सहायक होती है। क्रमशः मातृका में विगलित होने से बिन्दु रूप में परिणत होने में यह बिन्दु क्रमशः ऊर्ध्वमुख में उन्नीत होता है। मातृका से बिन्दु के जाने पर नाम में से जाना होता है अर्थात् मातृका विगलित होने पर ही नाद का उदय होता है। नाद अन्तर्मुखी प्रवाह है। प्रत्येक चक्र में इस प्रकार नाद से बिन्दु में प्रवेश होता है। लेकिन ध्यान रहे सुषुम्ना के भीतर ऊर्ध्वशक्ति क्रिया करती है। अन्यत्र सर्वत्र ही मध्याकर्षण का नियन्त्रण है। किन्तु एकमात्र सुषुम्ना में ही ऊर्ध्वाकर्षण शक्ति की क्रिया होती है। इसीलिए एकमात्र अधोवर्ती एक चक्र का बिन्दु ऊर्ध्ववर्त्ती चक्र में स्वतः ही उन्नीत होता है। इस प्रकार सर्वोच्च आज्ञाचक्र के बिन्दु में जाकर स्थिति होती है। इस समय से प्रज्ञा ज्योति का पूर्ण विकास होता है। इसको ही लोक में साधारणतः दिव्य चक्षु अथवा तृतीय नेत्र का उदय होना कहते हैं। इस तृतीय नेत्र का उदय होने पर प्राकृत दो नेत्र दृष्टिहीन हो जाते हैं। इसीलिए प्रज्ञा चक्षु कहने से अन्धे को समझा जाता है। इसीलिए जागतिक जीव अधः, ऊर्ध्व दोनों जगह है—द्विनेत्र अथवा एकनेत्र। जिनका दिव्य नेत्र खुल गया है, उनकी दृष्टि में प्राकृत जगत् का अस्तित्व नहीं रहता। इसीलिए उसको अन्धा कहते हैं। जो प्राकृत नेत्रों द्वारा परिचालित होते हैं उनके दिव्य नेत्र अप्रकाशित रहते हैं।

पूर्णतालाभ के पथिक के तीन नेत्र जाग्रत् रहते हैं। वे लौकिक सत्ता एवं अलौकिक सत्ता एक साथ देख पाते हैं। उनके लिए अगोचर कुछ भी नहीं रह

सकता। इस प्रकार ज्ञानशक्ति का विकास नहीं है, इसके अनुरूप ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का विकास होता है। सब की ऊर्ध्व अवस्था में स्वातन्त्र्य का विकास होता है। वह बात इस समय नहीं बोलता हूँ।

अब एक विषय अच्छी तरह से ग्रहण करने की चेष्टा करो। हमारी दो अवस्थाएँ कल्पनीय हैं—एक अवस्था में हम विकल्पज्ञान के अधीन हैं—और एक अवस्था विकल्पशून्य है। यह जो ज्योतिचिन्ता की बात कही गई है, यह निरन्तर अभ्यास कर सकने पर भीतर का आकाश चिन्मय रूप में विकसित होता है। इस समय हमारी लौकिक अवस्था के अनुरूप बाह्य जगत् का आभास नहीं रहता। भीतर का आकाश प्रस्फुटित होता है। बाह्य जगत् का आकाश बोलने से भूताकाश और चित्ताकाश समझना होता है। संसारी जीव का जाग्रत् अवस्था में बाह्य जगत् का दर्शन होता रहता है, इन्द्रियों के द्वारा। इस आकाश में रूपरसादि अनन्त बहिर्जगत् प्रकाशमान होता हैं। अन्य अवस्था में चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होने पर स्वप्नावस्था का उदय होता है। तब चित्ताकाश में स्वप्नमय जगत् दृष्ट होता है। इसके बाद घोर अज्ञानमय सुषुप्ति अवस्था में हृदय प्रदेश में सुप्तभाव का उदय होता है। फिर चक्र के आवर्तन के समात बाह्य जगत् का और अन्तर् जगत् का स्फुरण होता रहता है। इसका ही नाम संसार चक्र है। किन्तु जिन्हें गुरु की कृपा से ज्ञान का पथ प्राप्त होता है वे संसार चक्र से मुक्त हुए ऊर्ध्व दिशा में आरोहण करते हैं। उनके निकट ऊर्ध्वशक्ति के विकास के फलस्वरूप शुद्ध जगत् का प्रकाश क्रमशः होता है यह निर्विकल्प अवस्था है। विकल्प शुद्ध होने से निर्विकल्प अवस्था का उदय होता है। इस अवस्था में आनन्द का उदय होता है एवं ऊर्ध्वशक्ति की संकर्षप्राप्ति होती है। यह जो जगत् जहाँ ऊर्ध्वमुखी गति निरन्तर चलनशील है यह अन्तर्जगत् है। यही भविष्यत् में चिदाकाश रूप में प्रकाश पाता है। इस समय देहात्मबोध नहीं रहता। मन और प्राण की मलिन क्रिया भी नहीं रहती। यह निर्विकल्प अवस्था की एक स्थिति है।

जब मातृका विगलित होने से दूसरी अवस्था का बन जाता है तब दो अवस्था का क्रमशः उदय होता है। प्रथम नाद, द्वितीय ज्योति। इस ज्योतिर्ध्यान के अभ्यास के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहना आवश्यक है। उनमें भाग करने से पृथक्-पृथक् स्थिति समझनी होगी। पहले कल्पना के द्वारा ज्योतिदर्शन और साथ-साथ जपादि क्रिया सञ्चालन। उसके फलस्वरूप कई एक अवस्था का आविर्भाव होता है—एक है बाहर से ज्योतिदर्शन द्रष्टारूप में, और एक है ज्योति में डूबने से ज्योति होकर ज्योतिदर्शन। उसके बाद ज्योति भेद करने से निजस्वरूप में अवस्थान होता है। इन सब अवस्था का विस्तृत विवरण बाद में बोलूंगा।

प्रश्न—हमने सुना है—"तृतीय नेत्र खुला रहने से मनुष्य के स्वाभाविक नेत्र दोनों बन्द रहते हैं, तब मनुष्य देहात्मबोध पाके लौकिक व्यवहार इन्द्रियादि

द्वारा नहीं कर सकता—इसके लिए प्रज्ञाचक्षु के शब्द का अर्थ अन्धा है। पक्षान्तर में जब लौकिक चक्षु अथवा इन्द्रिय क्रियाशील रहते हैं तब देहात्मबोध रहता है एवं तृतीय नेत्र निमीलित के समान रहता है"—इसका यथार्थ तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—पूर्णत्व के पथ पर अग्रसर होने से तृतीय नेत्र उन्मीलित रहता है एवं बाह्य नेत्र भी उन्मीलित रहते हैं। जिनका तृतीय नेत्र उन्मीलन होने के साथ बाह्य नेत्र निमीलित हो जाएँ वे दिव्य चक्षु सम्पन्न देवता हैं। क्योंकि देवताओं के तृतीय नेत्र खुले रहते हैं। साधारण लोगों के बाह्य नेत्र उन्मीलित रहते हैं, कहने से तृतीय नेत्र निमीलित समान रहता है। तृतीय नेत्र के विकास को प्राप्त होने पर भी प्रथम अवस्था में ऐसा रहता है एवं ऐसा रूप ही होता है। देवताओं में महादेव अर्थात् शिव इसका व्यतिरेक है एवं शिव परिवार। देवताओं में एकमात्र शिव के तीन नेत्र हैं। अन्य देवताओं के तीन नेत्र नहीं हैं। अन्यान्य देवता सकल दिव्यचक्षु सम्पन्न हैं, उसमें सन्देह नहीं है किन्तु अपूर्ण कहने से उनका तृतीय नेत्र ही कार्य करता है—लौकिक नेत्र कार्य नहीं करते। जब तीनों नेत्र कार्य करते हैं तब पूर्णत्व का पथ खुल जाता है। तीनों नेत्रों के कार्य करते समय दिव्यचक्षु खुला रहता है एवं लौकिक चक्षु भी खुला रहता है। साधारणतः देवताओं का एक चक्षु होता है—शोभा के लिए दो चक्षु दिखाने होते हैं एवं मानव दिव्य चक्षु प्राप्त करने पर जब एक चक्षु सम्पन्न होता है तब वह उसकी दिव्य अवस्था होती है, लेकिन लौकिक अवस्था नहीं रहती। तब देहात्मबोध भी नहीं रहता। देहात्मबोध मायिक जगत् का बोध है। तीनों चक्षुओं के समभाव से क्रिया करने पर समझना होगा वही पूर्णत्व का पथ है अर्थात् जिस अवस्था में दिव्यज्ञान का विकास होता है जो साधारण मनुष्य का नहीं रहता एवं मायिक जगत् का ज्ञान भी रहता है, सर्व-साधारण मनुष्य का होता है। इस अवस्था में देहात्मबोध नहीं है, यह भी सत्य है और है, यह भी सत्य है। दोनों अनुभव ही पूर्ण रूप में प्रकाशमान रहते हैं। उनके देखने पर जीव होने पर भी शिव है एवं वास्तविक पक्ष में शिव होने पर भी जीव है क्योंकि जीव की वह सकल अवस्था अनुभव कर सकता है। इसीलिए पूर्णत्व के पथ पर योगी के तीन नेत्र होते हैं, केवल तृतीय नेत्र नहीं। देहात्मबोध है यह भी सत्य है, और देहात्मबोध नहीं है, यह भी सत्य है। ज्ञान का पूर्ण विकास तब होके रहता है। केवल तृतीय नेत्र खुला रहने पर ज्ञान का राज्य तब अधीन होता है किन्तु माया का जगत् उससे दूर रहता है। एक जन भक्त व्यथित हृदय से जिज्ञासा किए हैं—जीवन के दिन व्यतीत हो रहे हैं, यथाशक्ति उनकी चिन्ता की है किन्तु कुछ अग्रसर होने में समर्थ हुआ हूँ कि नहीं, वह समझ नहीं सकता। उसकी प्रचेष्टा "लङ्गर से मुक्त नौका के चम्पू चलाने के अनुरूप नहीं तो ?"

इसका तात्पर्य यही है कि नौका में चलने से लहर में बंधी रहने से वह चलती नहीं। लङ्गर से मुक्त हुई नौका को चलाने से चलना होगा। इस प्रकार की

प्रसिद्धि है कि कोई एक जन दुर्भाग्य नाविक सारी रात चप्पू द्वारा नौका चलाया था किन्तु उसको लङ्गर से मुक्त नहीं किया था। वह प्रातः उठकर देखा कि अक्लान्त परिश्रम होने पर भी वह जहां था वहीं पर है। इसका तात्पर्य यही है कि इस जीवन के पथ पर अग्रसर होने पर जो मूल बन्धन है वह पहले काट के फेंकना होता है, उसके बाद अग्रसर होना होता है, जिसका नाम पुरुषकार है। लेकिन किनारे पर यदि नौका बंधी रहे तो पुरुषकार के द्वारा किसी भी प्रकार उन्नति प्राप्त नहीं होती है। बात पूर्ण सत्य है अर्थात् पहले गुरु द्वारा दिए हुए ज्ञान के द्वारा अनादि काल का बन्धन काटके फेंकना होता है, उसके बाद पुरुषकार द्वारा अग्रसर होना होता है। यह अनादि बन्धन काटना, यही वास्तविक दीक्षा है और गुरु कृपा का रहस्य है। इसके बाद पुरुषकार का स्थान है। इसीलिए साधारणतः सद्गुरु के निकट से दीक्षा प्राप्त होने की आप्राण चेष्टा करनी होती है। किन्तु इस प्रकार भी होता है कि सद्गुरु की प्राप्ति और उनकी कृपा से मूल बन्धन काट के फेंकना—इसका कोई भी प्रमाण नहीं है। फिर भी व्यक्तिगत साधना अक्लान्त-भाव में चली है। इस स्थल में यह साधना व्यर्थ हो जाती है, यही साधारण विश्वास है क्योंकि खूंटी से मूल बन्धन यदि काटा नहीं जाता जो कूदने-कोदने से अग्रसर नहीं हुआ जाता, यह बात बिल्कुल सत्य है—किन्तु एक विशेष वक्तव्य है। तत्त्व की दृष्टि से इस सम्बन्ध में कुछ भी वक्तव्य नहीं है। किन्तु कार्य क्षेत्र में मूल बन्धन काटना हुआ कि नहीं, साक्षात् प्रमाण कोई भी साधक कहने में समर्थ नहीं है। यदि मान लिया जाए कि सद्गुरु की कृपा से बन्धन काटा जाता है किन्तु कर्म शेष रहता है, वैसा होने पर यही होता है कि साधना में अग्रसर होने पर यही समझना होता है कि साधना में अग्रसर होने पर क्रमशः मुक्ति निकटवर्ती होके रहनी अवश्यंभावी है। क्योंकि बन्धन काट देना गुरु का कार्य है। यदि सत्यासत्य वैसे काटा हुआ हो वैसा होने पर शिष्य अथवा साधक वैसा न समझने में समर्थ न होने पर भी साधना में वैसा न समझने में समर्थ न होने पर भी साधना में अग्रसर होने पर क्रमशः उन्नति लाभ कर सकते हैं। किन्तु प्रश्न यही है कि अज्ञान (शास्त्र के अनुसार) दो प्रकार का है। दोनों प्रकार के अज्ञान का नाश करना आवश्यक है। एक अज्ञान पौरुषेय अर्थात् देहात्मबोध के ऊपर वह निर्भरशील है। पौरुष अज्ञान कोई मनुष्य व्यक्तिगत भाव में अपने से दूर नहीं कर सकता। क्योंकि वह आत्मा का स्वरूपगत है। वह दूर कर सकते हैं एकमात्र गुरु, जो अपने कृपा रूप चित्तशक्ति के प्रभाव से आत्मा के स्वरूप से अज्ञान दूर कर देते हैं। इस पौरुष अज्ञान को दूर करना, यही भगवत्कृपा का फल है। किन्तु यह दूर करने पर भी साधक वैसा अनुभव करने में समर्थ नहीं है। वह अनुभव होता है चरम अवस्था में। यह (पौरुष अज्ञान) दूर होने पर बौद्ध अज्ञान दूर करना है। बौद्ध अज्ञान बुद्धि को आश्रय करके रहता है।

साधक जिस समय देहात्मबोध की अवस्था में बुद्धि को आश्रय करके विद्यमान रहता है, उस समय उसका देहात्मबोध भी रहता है एवं उसके साथ-साथ जो गुरु की कृपा से पौरुष ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका अनुभव रहता है। इस अवस्था में पौरुष अज्ञान निवृत्त होने पर भी बौद्ध अज्ञान निवृत्त न होने के कारण वही ज्ञान आत्मप्रकाश नहीं करता। साधना के एवं योग और उपासना के प्रभाव में बौद्ध ज्ञान का उदय होता है। उसके बाद पौरुष अज्ञान के निवृत्ति रूप पौरुष ज्ञान का उदय प्रकट होता रहता है। यही जीवन्मुक्ति का रहस्य है। आत्मा या ईश्वर के अपरोक्ष ज्ञान लाभ करने पर भी जीवन्मुक्ति होती नहीं जितनी देर तक देहाश्रित आत्मा के समझने पर उसी ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। उसी ज्ञान के प्रकाश का तारतम्य निबन्धन ब्रह्मवित्, ब्रह्मवित् वरीयान् और ब्रह्मवित् वरिष्ठ, इस प्रकार जीवन्मुक्ति का तारतम्य होकर रहता है।

अब बात यही है, सरल और तद्‌गत-प्राण भक्ति के प्रभाव में पौरुष अज्ञान निवृत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार नहीं है। फलतः सरल प्राण में भगवान् को पुकारना भी व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार कातर प्राण से बुलाते-बुलाते किसी समय साधक के अज्ञातसार में उनकी कृपादृष्टि पतित होती है एवं साधक का अनादि बन्धन कट जाता है। साधक वह तब समझ नहीं सकता। बाद में जब बुद्धि के क्षेत्र में उस ज्ञान का उदय होता है तब वह अनुभव कर सकता है एवं अपने में ही आश्चर्य होता है। मन में आता है कि कहाँ से मूलबन्धन छेदन कर दिया है। भगवत्कृपा की कोई सीमा नहीं है। बाह्य दृष्टि से सद्‌गुरु न पाने पर भी अन्तर्दृष्टि से भगवत्कृपा का आविर्भाव एवं अनादि बन्धन छेदन सम्भव नहीं है। सुतरां विश्वास खोना नहीं चाहिए। सरल भाव से उसको पुकारना सबके लिए अत्यन्त आवश्यक है। किस अज्ञात पथ से भगवत्कृपा संचारित होके मूल बन्धन छिन्न करदे उसे कौन बोल सकता है? जो सद्‌गुरु की कृपा पाये हैं, उनकी तो बात ही नहीं। दूसरों का भी सरल चित्त से भगवान् को बुलाना और आराधना करना आवश्यक है। किस अज्ञात सूत्र से उनकी कृपा दृष्टि किस महा क्षण में पड़ती है उसे कौन कह सकता है?

२२

भक्ति से मोक्ष एवं लीला का क्रम समझा दीजिए।

प्राचीन काल से प्रसिद्धि है 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'। भगवान् शङ्कराचार्य भी विवेकचूड़ामणि ग्रंथ में बोले हैं—'मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी'।

इससे समझा जाता है कि भक्ति से ज्ञान का उदय होता है एवं ज्ञान से मोक्ष होता है। पुनः पक्षान्तर में यह भी जाना जाता है कि भक्ति से प्रेम का उदय होके श्रीभगवान् की नित्य लीला में प्रवेश होता है। इस सम्बन्ध में स्वभाव से ही भक्ति तत्त्व के सम्बन्ध में सूक्ष्म रहस्य जानने के लिए कौतूहल होता है। भक्ति से ज्ञान होके जिस प्रकार मोक्ष प्राप्त होता है यह भी जिस प्रकार सत्य है, भक्ति से प्रेम का उदय हुआ नित्य लीला में प्रवेश होता है यह भी उसी प्रकार सत्य है। इसके रहस्य का सन्धान करने पर मानव-चित्त का संस्थान जानना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के द्वारा अनुप्राणित हुआ जगत् में विचरण करता है। यह प्रकृति विभिन्न बोल के मनुष्य की चरम परिणति में पार्थक्य उत्पन्न होता है। जागतिक भाषा में बोले जाने पर कहा जाता है मनुष्य का चित्त आर्द्र एवं शुष्क भेद में मूलतः दो प्रकार है—शुष्क चित्त ज्ञान के पथ में परिचलित होता है एवं आर्द्र चित्त ज्ञान के पथ का परिहार करके भाव के पथ में अग्रसर होता है। शुष्क चित्त में भक्ति साधन भक्ति अथवा क्रिया भक्ति नाम में आत्मप्रकाश करती है। इस प्रकार चित्त में भाव का प्राधान्य नहीं है। जागतिक दृष्टि में जो कुछ भाव है, वह साधन बल में शुष्क हो जाता है। इस अवस्था में भक्ति सर्वांगसम्पन्न रूप में अनुष्ठित होने पर, उससे ज्ञान का आविर्भाव होता है। यह जातीय जीव मुमुक्षु पद का वाच्य है। श्रीभगवान् भक्त की भक्ति साधना से प्रसन्न हुआ उसकी आत्म-स्वरूप का ज्ञान दान करता है। ज्ञान प्राप्त हुआ जीव मुक्ति प्राप्त करता है एवं ब्रह्मावस्था में स्थिति प्राप्त करता है। इसलिए भक्ति को ज्ञान का हेतु कहा है एवं चरम स्थिति में मुक्ति का कारण भी कह रखा है। इस प्रकार का भक्त साधना की पूर्ण परिणति में निर्विशेष अद्वैत स्थिति में अधिष्ठान करता है। यह हुई शुष्क भक्ति की बात, किन्तु जिस भक्त के हृदय में आर्द्र भक्ति रहती है वह कभी भी मुक्ति की आकांक्षा नहीं करता एवं भगवान् के साथ अद्वैत स्थिति प्राप्त करके समुद्र में जल बिन्दु के समान मिल जाने की इच्छा नहीं करता। इस प्रकार के भक्त भावपथ के पथिक हुए भावुक पद के वाच्य होते हैं। वे मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते। वे प्रकृति और माया के आवरण से मुक्त हुए अनन्तकाल भगवान् का सान्निध्य निज निज भाव के अनुसार नित्य अनुभव करने की इच्छा करते हैं। यह अनुभव आस्वादन का स्वरूप है। यह आस्वादन ही रस का आस्वादन है। इस प्रकार के भक्त रसिक पद में लिए जाते हैं। मोक्ष जिस प्रकार नित्य है एवं काल के अतीत है, ठीक उसी प्रकार भगवल्लीला में रसानुभूति भी नित्य है एवं काल के अतीत है। रुचि-भेद के अनुसार प्राप्ति का भेद होता है।

जो साधन-भक्ति के बाद ज्ञान के पथ पर अग्रसर होते हैं वे जीवन्मुक्त हुए ब्रह्मलोक में अवस्थान करते हैं एवं यथासमय निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होते हैं। इन सब साधकों का चित्त शुष्क कह कर इनका भगवान् के

नित्य प्रेममय नित्य लीला में प्रवेश लाभ नहीं होता।

अब प्रश्न यही है : शुष्क चित्त आर्द्र हो सकता है क्या एवं किस प्रकार यह सम्भव है ? आर्द्र होने पर भाव का उदय होना आवश्यक है एवं यह भाव जिसका स्वभाव सिद्ध रूप में नहीं रहता, उसके लिए वह बाहर से प्राप्त करना होता है। भाव सिद्ध भक्त एवं ह्लादिनीरूपा महाशक्ति की कृपा दोनों उपायों से भाव का सञ्चार होना सम्भव पर है। सञ्चार के बाद विकास स्वाभाविक नियम से ही होके रहता है। यही भाव स्थायी एवं अस्थायी व्यभिचारी भेद से विभिन्न है। सहज सिद्ध स्थायी भाव न रहने पर आगन्तुक भाव को भी अभ्यास के द्वारा स्थायी किया जाता है, अवश्य यह गौण मोक्ष है। साधन भक्ति मायिक देह को आश्रय करके कार्य करती रहती है। एवं गुरु और शास्त्र के विधान के अनुसार उसका अनुष्ठान होता है। भाव-भक्ति मायिक अथवा प्राकृतिक शरीर है। साधन-भक्ति की परिणति ज्ञान में है। तब भक्ति की अवस्था अवलम्बन है एवं विषय आलम्बन है। माया निवृत्ति के साथ एक हो जाती हैं। इसके बाद भक्ति ज्ञान रूप में परिणति प्राप्त करती है।

किन्तु भाव रूपी भक्ति की गति विभिन्न प्रकार की है। इस स्थल पर प्राकृतिक देह का कोई सम्बन्ध नहीं है। अप्राकृत देह का सम्बन्ध है। यह अप्राकृत स्वरूप भाव के आश्रय के पक्ष में एवं विषय के पक्ष में दोनों ही जगह समान है। इस स्थल पर और भी एक वैशिष्ट्य है। अप्राकृत देह काल के अतीत है तभी अपरिणामी है किन्तु प्राकृत देह काल के अन्तर्गत है तभी परिणामशील है। किन्तु इस स्थल पर एक रहस्य है। प्राकृत देह निवृत्ति होने के साथ-साथ ज्ञान का उदय होने से भगवान् के साथ तादात्म्य लाभ होता है। किन्तु अप्राकृत देह की गति अन्य प्रकार है। साधन भक्ति की परिणति में ज्ञान का उदय होने पर अद्वैत अवस्था का आविर्भाव होता है, कहने से माया संसृष्ट दो आधार ही विलीन हो जाते हैं। भक्ति का एक आधार अर्थात् आश्रय रूपी आधार जीव है, अन्य आधार अर्थात् विषय रूपी ईश्वर हैं। दोनों आधार ही माया से कल्पित हैं। ज्ञान का उदय होने पर माया निवृत्त होने के साथ-साथ दोनों आधार अर्थात् आश्रय एवं विषय टूट जाते हैं एवं एकमात्र अद्वैत ज्ञान ही तब विराजमान होता है किन्तु भाव भक्ति के स्थल पर आश्रय और विषय दोनों ही अप्राकृत हैं, तभी माया निवृत्त हो जाने पर भी दोनों ही रहते हैं। भाव साधना के क्रमिक उत्कर्ष के बल से यह आश्रय और विषय क्रमशः सन्निहित होते हैं। चरमावस्था में दोनों में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता एवं दोनों का योग हो जाता है। इस भाव से प्रेम के आविर्भाव की अवस्था जाननी होती है। इस अवस्था में भाव प्रेम रूप में आत्मप्रकाश करता है, कहने से आश्रय और विषय में कोई व्यवधान नहीं रहता। व्यवधान यदि नहीं रहता है, किन्तु आश्रय भी रहता है, विषय भी रहता

है, किसी का नाश नहीं होता। प्रेम के उदय में प्रेमिक एवं प्रेम पात्र नित्ययुक्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। इस को योग कहते हैं। प्रेम से इस योग का उद्भव होता है। यह नित्य योग है। किन्तु साधन भक्ति से यह योग नहीं होता। वहाँ दोनों सत्ताएँ तिरोहित हो जाती हैं एवं एकमात्र भगवत्प्रकाश ही विद्यमान रहता है। यह प्रकाश ज्ञान रूप में उदित होता है, जिसका अव्यवहित फल मोक्ष का उदय है किन्तु भाव भक्ति के क्षेत्र में प्रेम अवस्था में नित्य योग का आविर्भाव होता है। बाद में विषय और आश्रय दोनों जगह द्रुति का आविर्भाव होता है। द्रुति के प्ररिणामस्वरूप आश्रय विलीन हो जाता है एवं विषय भी विलीन हो जाता है एवं विगलित भाव में दोनों एक हो जाते हैं। इसका नाम रस है।

यह है रसाद्वैत और ज्ञान के पथ में जो अद्वैत पाया गया था उसका नाम चिदाद्वैत है। रसाद्वैत की धारा नित्य लीला के साथ सम्बन्ध रखती है। रसाद्वैत में भक्त और भगवान् हैं—दोनों का स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। रसरूप में दोनों एक हो जाते हैं, यह सत्य है किन्तु व्यक्तिगत सत्ता का लोप नहीं होता। किन्तु ज्ञान की पूर्णता में चिदाद्वैत जब होता है तब भक्त और भगवान् किसी का भी स्वरूप नहीं रहता। रहता है एकमात्र अद्वैतरूप ब्रह्म। दोनों में यही पार्थक्य रहता है।

नित्यलीला माया के अतीत है। अविद्या के अतीत है एवं काल के भी अतीत है। उसमें रस रूप अद्वैत सत्ता रहती है, किन्तु स्वभाव का विनाश नहीं होता। इस नित्यभाव के अनुसार स्वातन्त्र्य शक्ति के उल्लास के बल से भक्त और भगवान् में अनन्त प्रकार क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है। एक अखण्ड रस में ही यह विराट् व्यापार सम्पादित होता है। तभी यह लीला ही वास्तविक रास-लीला का द्वारस्वरूप है। इस लीला में जीव का जीवत्व जिस प्रकार हट जाता है, भगवान् की भगवत्ता भी उसी प्रकार दूर हो जाती है। इस लीला में परिणाम साधक काल का खेल नहीं है, कार्य कारण भाव नहीं। स्वभाव का प्रतिबन्धक कुछ भी नहीं है। यह अपने साथ ही अपने जन का खेल है। भाव के अनुसार आस्वादन का तारतम्य बनके रहता है। इस लीला का उल्लास स्वातन्त्र्यमूलक है, यहाँ माया का खेल नहीं है। मोक्ष में भी माया का खेल नहीं है वह सत्य है किन्तु यहाँ योगमाया का खेल है।

भगवान् की स्वातन्त्र्यशक्ति योग माया के रूप में आत्मप्रकाश करती है। यह योगमाया पूर्ण वस्तु को छिपा के रखती है। सबके निकट प्रकाश होने नहीं देती। ज्ञान के पथ में माया काटे जाने पर महाप्रकाश का और कोई बाधक नहीं है। किन्तु उसी महाप्रकाश में प्रेम का खेल पा जाने पर माया आवश्यक है। यह विशिष्ट माया है—इसका ही नाम योगमाया है। यह स्वभाव का खेल है। योग-माया अन्य स्वभाव की इच्छा पूर्ण कर नहीं सकती। मोक्ष कूटस्थ महाप्रकाश के

समान स्थिर विराजमान हैं। किन्तु भगवत्लीला में योगमाया के प्रभाव में इसी महाप्रकाश में अनन्त तरङ्गों का आविर्भाव होता है। जहां से लीला का आविर्भाव होता है आवर्तन के बाद वहां आते ही लीला का पर्यवसान होता है। किन्तु पर्यवसान होने पर भी वहां लीला समाप्त नहीं होती—नित्य नये-नये रस का उद्भावन होता रहता है।

२३

शिष्य के प्रारब्ध का भोग क्या शक्तिमान गुरु सम्पूर्ण खण्डन नहीं कर सकता? वह यदि नहीं कर सकते हैं तब भी गुरु सर्वशक्तिमान है—इस बात का क्या अर्थ है?

तुम गुरु बोलने से क्या समझते हो? व्यावहारिक जगत् में जो गुरु शिष्य सम्बन्ध रहता है उससे गुरु का चरम आदर्श प्रकाश नहीं पाता। क्योंकि व्यावहारिक गुरु अनेक प्रकार से संसारविशिष्ट है। वे देहात्मबोध से युक्त हैं। उनकी सर्वशक्ति का प्रकाश तभी सम्भव है जब शिष्य पूर्ण रूप से शरणागत हो। गुरु के साक्षात्कार के बाद शरणागति का प्रश्न उठता है। सर्वशक्ति सम्पन्न एकमात्र परमेश्वर ही हो सकता है। गुरु यदि ईश्वरत्व के अभिमान से युक्त हो और वैसा होने पर भी शिष्य की शरणगति का प्रश्न रहता है। जब शिष्य सम्पूर्ण रूप से अपने को सचमुच भगवद्-अनुगत अनुभव करता है तब उसकी कोई पृथक् इच्छा नहीं रहती। गुरु पर पूर्ण निर्भर हो जाने के बाद एवं अपना योगक्षेम वहन करने की सारी क्षमता श्रीभगवत्स्वरूप में पूर्णतया अर्पित होने के बाद इस कठिन प्रश्न की मीमांसा अपने आप हो जाती है। भक्ति के पूर्ण प्रकाश एवं शरणागति की पूर्ण प्राप्ति के एकमात्र भगवद् इच्छा ही नियामक रहती है। फलतः वहां असम्भव कुछ भी नहीं रहता। क्योंकि भगवद्-इच्छा स्वातन्त्र्य स्वरूप है। वहां उसकी बाधा कुछ भी नहीं रहती। शरणागति की मात्रा पूर्ण है कि नहीं एवं भगवत्स्वरूप पर पूर्ण निर्भर है कि नहीं, इसका विचार मनुष्य के लिए करणीय नहीं है।

२४

जीवन्मुक्ति कथा का यथार्थ तात्पर्य क्या है?

जीवन्मुक्ति भारतीय अध्यात्म साधना का एक महान् आदर्श है। भारतीय

दार्शनिक सिद्धान्त के अवसर अनादि अज्ञान से कर्म का आश्रय ले के मानव देह का उद्भव होता है। देह, इसकी आयु एवं इसका सुख-दुःख अनुभव रूपभोग, प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न होता है। देह भोगायतन है। सुख-दुःख भोग विदेह अवस्था में होता नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में है—"अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"—सुख-दुःख भोग कर्म से उत्पन्न है एवं कर्म अज्ञान निबन्ध हो के रहता है। सुतरां आत्मसाक्षात्कार न होने तक कर्मबन्धन काटने में समर्थ नहीं होता। कर्म निर्मूल भाव से काटे जाने पर देह उत्पन्न नहीं हो सकता। सुतरां भविष्यत् में देह ग्रहण सम्भव पर नहीं है। इसका ही नाम मुक्ति है।

मुक्ति दो प्रकार की है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। आत्मसाक्षात्कार होने के बाद देह सम्बन्ध तिरोहित होता है। किन्तु यह साक्षात्कार के अव्यवहित बाद ही होवे यह कोई बात नहीं है। आत्मसाक्षात्कार होने पर भी जितनी देर तक देह विद्यमान रहता है, उतनी देर तक मुक्ति का अनुभव हो सकता है कि नहीं, यही मुख्य प्रश्न है। जिस अवस्था में देह रहने पर भी मुक्ति का अनुभव बाधाप्राप्त नहीं होता, वही अवस्था जीवन्मुक्ति है। किन्तु यदि किसी स्थल में आत्मसाक्षात्कार होने के बाद भी मुक्ति का अनुभव नहीं होता है, उस स्थल में जीवन्मुक्ति सम्भवपर नहीं होती। तब देहत्याग के बाद मुक्ति अबाधित है, यह परामुक्ति है। अतएव आत्मसाक्षात्कार होने पर परामुक्ति के सम्बन्ध में कोई संशय रह नहीं सकता। किन्तु जितने दिन देह विद्यमान रहता है उतने दिन तक आत्मा अपने को मुक्त कह के अनुभव करने में समर्थ होती ही है, इसकी कोई भी निश्चयता नहीं है। सूर्य के उदय होने पर ही जो उसका अनुभव हो, यह कहने से जिस प्रकार काम नहीं चलता, क्योंकि घनघोर कृष्णमेघ का अन्तराल यदि विद्यमान रहता है तब सूर्योदय के बाद भी वह लक्षित नहीं होता। आवरण काटे जाने पर उसका कोई भी प्रतिबन्धक नहीं रहता। देह के साथ संश्लिष्ट आवरण दो प्रकार का है—भौतिक एवं चित्त सम्बन्धी। पञ्चभूत से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। सुतरां पञ्चभूत की शुद्धि होने पर ही भौतिक आवरण निवृत्त होता है, यह कहा जा सकता है। तद्रूप चित्तशुद्धि होने पर ही चित्त का आवरण निवृत्त होता है—यह दो प्रकार का आवरण तपस्या, साधना, योगाभ्यास इत्यादि के प्रभाव से नष्ट हो सकता है। इस प्रकार के स्थल पर आत्मसाक्षात्कार रूपी ज्ञान अचल अपरोक्षरूप में अनुभूत हुआ जीवन्मुक्तिरूप आनन्द का अभिव्यञ्जक है। किन्तु ध्यान रखना होगा कि चित्त सम्बन्धी आवरण उतने दिन तक कार्य करता है जितने दिन चित्तशुद्धि अथवा भूतशुद्धि के द्वारा आवरण की निवृत्ति नहीं होती। परिणामतः अपरोक्ष ज्ञान के उदय में होने पर उसके अनुभव के लिए चित्तशुद्धि और भूतशुद्धि आवश्यक है। यदि चित्त की अथवा भौतिक देह की मलशुद्धि नहीं होती, वैसा होने पर जीवितकाल पर्यन्त अपरोक्ष ज्ञान अपरोक्ष रूप में अनुभूत

नहीं होता एवं उसी लिए जीवन्मुक्ति के उदय का सहायक नहीं होता। किन्तु जीवन्मुक्ति का उदय न होने पर भी प्रारब्ध कर्म के अवसान में देह जब अतीत होता है तब कोई आवरण न रहने के कारण अपरोक्ष ज्ञान अनुभव के गोचर हुआ विदेहमुक्ति का उदय सम्पादन करता है।

अब प्रश्न हो सकता है—अपरोक्ष ज्ञान न होने पर जीवन्मुक्ति होती नहीं, यह सत्य है किन्तु अपरोक्ष ज्ञान होने पर ही जीवन्मुक्ति होगी ही—वह भी कहा नहीं जाता। क्योंकि पूर्ववर्णित देह सम्बन्धी अशुद्धि जीवन्मुक्ति का बाधक हो सकती है। प्राचीनकाल से ही प्रसिद्धि है कि अपरोक्ष आत्मज्ञान का उदय तत्त्व-विचार से हो सकता है एवं उपासना के फलस्वरूप भी उत्पन्न हो सकता है। सकल मानवों का अपरोक्ष ज्ञान एक ही कारण से उत्पन्न होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। जिनका चित्त तत्त्वविचार में निपुण है एवं बुद्धि स्वच्छ और स्पष्ट है, उनके लिए तत्त्वविचार से आत्मसाक्षात्कार का उदय सम्भव है। क्योंकि ज्ञान का आवरण निर्मुक्त होने पर साक्षात्कार में कोई बाधा नहीं रहती। किन्तु आत्म-साक्षात्कार होने पर भी इस स्थल में जीवन्मुक्ति का उदय हो नहीं सकता। इसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वविचार के द्वारा साक्षात्कार सम्भव होने पर भी साक्षात्कार का अनुभव सम्भव होता नहीं। अनुभव के आविर्भाव के लिए देहशुद्धि एवं चित्तशुद्धि आवश्यक है। किन्तु जहाँ उपासना के फलस्वरूप स्वाभाविक क्रम में चित्त और देह की शुद्धि सम्भव है, वहाँ आत्मसाक्षात्कार के बाद ही जीवन्मुक्ति का आविर्भाव होने में कोई बाधा रहती नहीं। जीवन्मुक्ति की अवस्था में ब्रह्म-साक्षात्कार एवं आत्मसाक्षात्कार तीन प्रकार से अनुभूत होता है। वेदान्तमत में आत्मा अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ही जगत् का मिथ्यात्व अनुभूत होता है। एवं यदि बाधित अनुवृत्तरूप में जगत् की सत्यता का भाव नहीं है, कहने से जीवन्मुक्ति में बाधा डाल नहीं सकता। साधारणतः जीवन्मुक्ति में तीन अवस्था कल्पित हो के रहती हैं। एक ब्रह्मविद् अवस्था, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद् वरिष्ठ अवस्था। ज्ञान की सप्त भूमि के अनुसार यदि चतुर्थ भूमि ब्रह्मसाक्षात्कार की भूमि मानी जाए, वैसा होने पर पञ्चम, षष्ठ एवं सप्त भूमि माननी होगी। तृतीय अवस्था में तीन क्रमिक अभिव्यक्ति है। इन तीन भूमियों की प्रथम भूमि में ब्रह्म का सत्यरूप में साक्षात्कार होता है, लेकिन जगत् भी सत्यरूप में प्रतीत होता है। लेकिन सत्यरूप में प्रतीत होने पर यह बाधित अनुवृत्ति की ही अवस्था है। पञ्चम भूमि में जगत् का मिथ्यारूप जानना होने पर भी वह जाग्रत् अवस्था के समान स्पष्ट प्रतीत होता है। षष्ठ भूमि में वह स्वप्न के समान प्रतीत होता है एवं सप्तम भूमि में वह तुरीयातीत स्थिति में पर्यवसित होता है। वह सुषुप्तवत् गृहीत होता रहता है। देहपात होने पर जीवात्मा ब्रह्मरूप में ही आत्मप्रकाश करता है, जिसका नाम परामुक्ति अवस्था है।

जीवन्मुक्त अवस्था में सञ्चित कर्म नहीं रहता। वह ज्ञानाग्नि में दग्ध होता है, तब भी सञ्चित कर्म का जो अंश क्रियमाण कर्म के प्रभाव से प्रारब्धरूप में परिणत होता है, वह विद्यमान रहता है। प्रारब्ध का अवसान होने पर कोई कर्म ही रहता नहीं।

जो भी हो—जीवन्मुक्ति और परामुक्ति दोनों ही हैं। अवश्य ही इस सम्बन्ध में मतभेद हैं। ब्रह्मदर्शन के बाद जितने दिन देह रहे उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। उसी देह के अन्त में परामुक्ति प्राप्त होती है। यही शाक्त-मत है।

बद्धावस्था में जीव शक्ति के अधीन है। मुक्तावस्था में शक्ति जीव के अधीन है। मन, बुद्धि, देह, अणु, परमाणु सब शक्ति के अन्तर्गत हैं। यह शक्ति और पराशक्ति एक ही है। वही एक ही शक्ति जीव को बद्धावस्था में समस्त चक्रों में से घुमाती है। पुनः जब जीव शिवत्व लाभ करता है तब शक्ति ही उसके अधीन होती है। इस शक्ति को ही जगदम्बा इत्यादि बोला जाता है। जीव के भीतर शक्ति चक्र की सहायता से चार दिशाओं से कार्य करती हैं—(१) खेचरी चक्र, (२) दिक्चरी चक्र, (३) गोचरी चक्र, (४) भूचरी चक्र।

शिवत्व काल में यह चार बन्धन अन्य रूप में क्रिया करते हैं। खेचरी चक्र खेचरी शक्ति में रूपान्तरित होता है, उसी प्रकार दिक्चरी चक्र दिक्चरी शक्ति में, भूचरी चक्र भूचरी शक्ति में, गोचरी चक्र गोचरी शक्ति में परिणत होता है।

खेचरी शक्ति में वह देहातीत अहं को प्राप्त होता है। फिर भी 'मैं' बोध भी रह जाता है। इस अवस्था में सर्वत्र 'मैं' मय होता है। 'सबका' मैं 'मैं ही' पुनः 'मेरा मैं' भी मैं। जीव में अनन्त अहं फूट उठता है। यही बात परमात्मा की दिशा से है। एक ही मन पुनः अनन्त मत है। हमारा ही मन। पुनः सब जीवों का मन भी हमारा मन। सब जीव, ऋषि, मुनियों का मन भी हमारा मन। वह निरोध नहीं है; सम्पूर्ण जाग्रत् मन। इस अवस्था में गोचरी शक्ति के प्रभाव में दूसरे की व्यक्तिगत घटना भी अपने जीवन की घटना के समान प्रकाशमान होती है।

तभी जीवन्मुक्त अवस्था शिवभाव में परिणत होती है। इस क्षेत्र में शिव भी 'मैं' फिर भी जीव भी 'मैं', मैं जीव भी पुनः शिव भी, इस प्रकार प्रतीत होता है। इसके अतीत होने पर सर्वातीत अवस्था है, उसके सम्पर्क में कुछ कहा नहीं जाता—वही परामुक्ति की अवस्था है।

२५

पातञ्जल अथवा सेश्वर सांख्य मत की धारा अच्छी तरह समझा दीजिए।

सभी जानते हैं निरीश्वर और सेश्वर दो प्रकार के सांख्य हैं। निरीश्वर

सांख्य में ईश्वर नहीं है। सृष्टि का कार्य प्रकृति से होता है एवं जीवोद्धार का कार्य जीवन्मुक्त पुरुष गुरुपदवाच्य है। किन्तु पातञ्जल सांख्य अन्य प्रकार का है। उसमें नित्यसिद्ध ईश्वर नाम से एक तत्त्व है। यह सांख्य के मुक्त पुरुष के ऊर्ध्व में है। यह ईश्वर जीवन्मुक्त देह और गुरु है। तभी वे विश्व गुरु हैं। सेश्वर सांख्य में प्रकृति-राज्य में तीन गुण स्वीकार किये हुए हैं। किन्तु प्रकृति के बाहिर नित्य ईश्वर का उपाधिस्वरूप शुद्ध सत्त्व स्वीकार किया हुआ है। इस मार्ग में एक सांख्य-अनुगत पथ है। और एक गुप्त योगपथ भी है। प्रसिद्ध पथ विवेक का पथ है। अस्मिता समाधि में प्रतिष्ठित हुआ साधक विवेक ख्याति की दिशा में अग्रसर होता है। विवेकख्याति का चरम उद्देश्य प्रकृति से पुरुष को पृथक् करके कैवल्य में स्थित करना है। किन्तु यह पहले खूब ही कठिन है। क्योंकि, साधक प्रकृति से पुरुष को पृथक् करने की चेष्टा करने में क्या उपादान ग्रहण करे? क्योंकि, साधक सृष्टि के अन्तर्गत कहने से, उसकी उपाधि पुरुष और प्रकृति दोनों के द्वारा मिश्र है। साधक कहने से इस प्रकार एक वस्तु समझी जाती है जिसमें प्रकृति है एवं पुरुष भी है। यही बुद्धितत्त्व है—यह प्रकृति नहीं, शुद्ध पुरुष भी नहीं है। साधन करते-करते हठात् पुरुष का अर्थात् साधक का एक सहसा दीप्त (flash) का उदय होता है विद्युत् की चमक के समान। यह जो प्रकाश है यह पुरुष की स्वरूप-ज्योति है एवं इससे जो प्रकाशमान होता है वह प्रकृति के तीन गुण हैं। यह तीन गुण जड़ हैं। बुद्धि की इस प्रकार कोई क्षमता नहीं, बुद्धि जिसके द्वारा प्रकृति के दर्शन करे पुरुष स्वयं प्रकाश है। बुद्धि की इस प्रकार क्षमता नहीं जिसके द्वारा शुद्ध पुरुष के दर्शन करे। दीर्घ साधना के बाद अकस्मात् एक विद्युत की चमक के बराबर ज्योति का प्रकाश होता है। यह पुरुष की स्वरूप ज्योति है। इस ज्योति से पुरुष का स्वरूप पहचाना जाता है एवं साथ-साथ सत्त्व रजः एवं तमः तीन गुणों का स्वरूप भी देखने में पाया जाता है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष का दर्शन हो जाता है। उसके बाद 'धर्म मेघ' समाधि होती है एवं पुरुष क्रमशः प्रकृति से पृथक् हो जाता है एवं तभी विवेकख्याति का उदय होता है एवं वह भी बाद में निरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार पुरुष प्रकृति से पृथक् हुआ केवल भाव अर्थात् कैवल्य अर्थात् isolation प्राप्त करता है अथवा पवित्रता 'purity' प्राप्त करता है। प्रकृति भी त्रिगुण रूप में अव्यक्त हो जाती है। बुद्धि का चिर-अवदमन होता है। ऐसा होने पर पुरुष का प्रकृति से पार्थक्य (separation) होता है। प्रकृति पुरुष की निज शक्ति नहीं है। यही है एक पथ। जो अस्मिता भूमि में परिपक्वता प्राप्त करते हैं और भोगवासना से मुक्त रहते हैं वे किसी न किसी एक नवीन ब्रह्माण्ड का अधिष्ठातृत्व प्राप्त करते हैं अर्थात् ईश्वरत्व पदप्राप्ति होती है—जितने दिन महाप्रलय में ब्रह्माण्ड ध्वंस नहीं होता, उतने दिन इस पद पर रहता है। उसके बाद पृथक् हो जाता है।

और एक अवस्था है। वह भी अस्मिता भूमि से प्राप्त करनी होती है। इस भूमि में मधुमती अवस्था का उदय होता है। यह कई परीक्षाओं की भूमि है। अस्मिता की ज्योति शुद्ध होने पर उसकी एक अपूर्व विकास अवस्था प्राप्त होती है, तब अनेक सिद्ध ऋषि, योगी, देवता उसी साधक के निकट उपस्थित होते हैं। कई उसे विभिन्न प्रकार की शक्ति और ऐश्वर्य के द्वारा प्रलुब्ध करते हैं। यह एक विघ्नस्वरूप है। क्योंकि इससे साधक के अहङ्कार वृद्धि होने की सम्भावना है, क्योंकि समग्र विश्व के विभिन्न प्रकार के देव, देवी और सिद्धगण उसके निकट उपस्थित होते हैं एवं निज-निज शक्ति का प्रदर्शन करने का प्रयास दिखाते हैं। यह एक आशङ्का की बात है। क्योंकि प्रलोभन में पतित होना असम्भव नहीं। और एक आशङ्का इस अवस्था में दिखा देते हैं—वह है अहङ्कार का उदय होना। किसी-किसी के मन में होता है कि वह इतनी उच्च भूमि में उठा है कि महापुरुष भी उसके निकट आते हैं। जब यह दो आशङ्काओं का कारण निवृत्त होता है, तब इस अस्मिता की स्वरूप ज्योति निर्मल होती है। निर्मल होने पर उसकी सत्ता, देह, इन्द्रिय आदि शुद्ध होते हैं। तब उनकी इच्छा, कार्य में परिणत होती है, संयम की आवश्यकता होती नहीं एवं उसके बाद—धीरे-धीरे एक-एक कला कर के इस शक्ति का विकास होता है। इस प्रकार जो पञ्चदश, षोड़श कला तक विकास होता है, यह शक्ति योगी के साथ अभिन्न है। इस प्रकार से समग्र शक्ति उसके साथ अभिन्न होती है। यह योगी शिवत्व अनुभव करता है एवं प्राप्त करता है। यही योग का पथ है। पुरुष रूपी आत्मा का शिव रूप में रूपान्तर होता है।

जहाँ इन्द्रिय-शोधन नहीं होता, वहाँ इच्छा के साथ क्रिया का प्रयोजन होता है—जिस प्रकार संयम आदि—इसे विभूति कहते हैं।

२६

आवर्तगति से सरल गति में प्रवेश किस प्रकार हो सकता है, एवं इसका रहस्य क्या है ?

तुम्हारे इस प्रश्न का समाधान करने के लिए व्यापक दृष्टि द्वारा विश्व का रहस्य उद्घाटन करना होता है। इस प्रश्न का नाना प्रकार से समाधान हो सकता है किन्तु समाधान के प्रकार भिन्न होने पर भी समाधान का अन्तर्निहित तत्त्व एक ही है। जितना सम्भव है सहज भाषा में दोनों प्रकार ही तुम्हें विश्लेषण करके समझाने की चेष्टा करता हूँ।

प्रथम प्रकार—तुम जानते हो हमारा अर्थात् साधारण मनुष्य का दैनन्दिन जीवन किस प्रकार आवर्तित होता है ? हम जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में निरन्तर संसार मार्ग में अग्रसर होते हैं। जाग्रत् से स्वप्न, स्वप्न से सुषुप्ति, सुषुप्ति से पुनः जाग्रत्, पुनः स्वप्न पुनः सुषुप्ति—इस क्रमधारा में हमारे जीवन की धारा चलती आई है। जाग्रत् अवस्था में स्थूल जगत् का बोध उत्पन्न होता है। स्वप्न की अवस्था में सूक्ष्म और संस्कार जगत् का ज्ञान होता है। सुषुप्ति में इस प्रकार का कोई ज्ञान नहीं रहता, अज्ञान बिन्दु में मन डूब जाता है। जीवनयोनिप्रयत्न द्वारा सुषुप्ति भङ्ग होने पर पुनः जाग्रतादि क्रम में आवर्त्त चलता रहता हैं। साधारण मनुष्य मात्र का सांसारिक जीवन इसी प्रकार का है। यही आवर्त्तगति है। पुनः पुनः इसका ही आवर्तन होता है। आवर्त्त गति से सरल गति में प्रवेश न कर सकने पर मानव जीवन की सफलता-प्राप्ति नहीं होती। इस आवर्त्तगति से बाहिर होने का एकमात्र उपाय काल की मात्रा जिससे क्रमशः क्षीण होती है, उसका उपाय अवलम्बन करना है। साधारणतः सांसारिक जीवन में काल की निम्नतम मात्रा एक माननी है। इस एक मात्रा काल में ही मनुष्य के ज्ञान की एकाग्रता सिद्ध होती है। सांसारिक जीवन में मन की अशोधित अवस्था में एक मात्रा को तोड़ के अर्धमात्रा में परिणत करना सम्भव नहीं है। मनुष्य चित्त-वृत्ति को जितना एकाग्रभूमि की दिशा में सञ्चालन करे उतना ही चित्त के काल सम्बन्ध की मात्रा क्षीण होती रहती है। एकाग्रभूमि से काल की जो मात्रा लक्षित होती है वही व्यावहारिक दृष्टि में काल की निम्नतम मात्रा है। ह्रस्व स्वरवर्ण का उच्चारण काल वह एक मात्रा है। दीर्घ और लुप्त की बात छोड़ दी है, उनकी मात्रा अधिक है। किन्तु व्यञ्जन वर्ण की मात्रा आधी है। किन्तु अर्धमात्रा स्वर के व्यतिरेक में कार्यक्षम होता नहीं। सुतरां कार्यसाधन उपयोगी निम्नतम मात्रा एक है, यही सिद्धान्त है। इस एक को तोड़ने से अर्धमात्रा में परिणत न कर सकने पर काल की आवर्त्त गति भेद करके सरल गति प्राप्त करना सम्भव नहीं है। सांसारिक जीवन में यह सम्भव नहीं। क्योंकि, यहाँ काल का आवर्त्त निरन्तर क्रियाशील है। इस आवर्त्त से मन के किसी शान्त स्थान में उत्थापित करके रक्षा न कर सकने पर काल के आवर्त्त से रक्षा पाने का उपाय नहीं है। सद्गुरु शक्तिपात की सहायता से शिष्य को काल के आवर्त्त से उत्थापित करके काल की मात्रा को अर्धमात्रा में परिणत कर देते हैं। हमारे ऊँकार के अवयव में मस्तक में जो अर्धचन्द्र देखने में पाया जाता है, इस अर्धचन्द्र के शिरोदेश में जो बिन्दु है, वही अर्धमात्रा का प्रतीक है। बिन्दु महामाया का दूसरा नाम है। यही साधना-क्षेत्र में योगमाया नाम से प्रकाशित होता है। यही माया के अतीत है एवं तुरीय भूमि का प्रान्त-देश है।

एक मात्रा को अर्धमात्रा में परिणत करना ही सरल गति का मुख्य सोपान है। वैज्ञानिकगण परमाणु को तोड़ के अर्थात् विश्लेषण करके जो शक्तिकण

प्राप्त करते रहते हैं—उपासक योगी भी तद्रूप एक मात्रा को तोड़ के अर्धमात्रा में प्रवेश करते हैं। परमाणु को तोड़ के शक्तिकणों में परिणत करना तीव्र बल प्रयोग का कार्य है। ठीक उसी प्रकार सांसारिक जीवन की चरम मात्रा एक से निम्न में पतित नहीं होती। किन्तु गुरुदत्त चित्त शक्ति के प्रवल प्रभाव में एक मात्रा टूट जाए, तो सर्वप्रथम ही अर्धमात्रा का उदय होता है एवं क्रमशः यह विश्लेषण कार्य चलता रहता है। पातञ्जल योगिसम्प्रदाय में एकाग्रभूमि से निरोध भूमि में जाने का विवरण है। एकाग्र अवस्था से निरोध अवस्था में जाना वास्तविक पक्ष में आवर्त्त त्याग करके सरल पथ पर जाने का इतिहास है। बाह्य विज्ञान में जिस प्रकार भौतिक ऊर्जा (matter energy) से रूपान्तर प्राप्त होता है, आन्तरिक विज्ञान में भी उसी प्रकार आवर्त्त गति सरल गति में परिणत होने का रहस्य देखने में पाया जाता है। बिन्दु ईश्वरतत्त्व का प्रतीक है। बिन्दु की मात्रा अर्ध-मात्रा है। सद्‌गुरु दीक्षा के द्वारा शिष्य में यह अर्धमात्रा प्रतिष्ठित कर देते हैं। उसके बाद क्रमशः इस अर्धमात्रा की क्रिया पुनः-पुनः आवर्तित होती रहती है। बिन्दु से ऊर्ध्वगति क्रमशः सूक्ष्म पथ ग्रहण करके चलती रहती है। इस ऊर्ध्वगति के क्रमिक संचार होने के फलस्वरूप अर्धमात्रा तोड़ के पुनः अर्धमात्रा में एवं उत्तरोत्तर इसी क्रम से अग्रसर होता है। इस प्रकार अर्धमात्रा से क्रमशः काल सम्बन्ध की मात्रा क्षीण से क्षीणतर होती रहती है। यह स्थिति जितने दिन तक जागरूक रहे उतने दिन तक योगी तुरीय अवस्था में विद्यमान रहता है।

यह जो मात्रा की बात कही गई, यह मन के साथ काल के सम्बन्ध का परिमाण समझना होता है। अर्धमात्रा में मन चैतन्य को जितना स्पर्श करे—एक चतुर्थांश मात्रा में तदपेक्षा अधिक परिमाण में स्पर्श करता है। मनः प्रतिबिम्बित चैतन्य से विशुद्ध चैतन्य की दिशा में चलने का जो पथ है वही यह सरल मार्ग है। इस मार्ग में संचरण करने के साथ-साथ मन का सम्बन्ध क्रमशः होता है। एवं चैतन्य का सम्बन्ध अधिकतर निविड़ और गाढ़ हो के रहता है। जिस मात्रा में मन क्रमशः क्षीण हो जाता है एवं चैतन्य का पुष्टि साधन होता है ठीक उसी मात्रा में साधक काल राज्य से उत्थित होके रहता है। जब मन क्रमशः क्षीण हुआ अपने सामर्थ्य के अनुसार चरम क्षीणता को प्राप्त होता है तब उसके पक्ष में और अग्र गति सम्भव होती नहीं। तब इस क्षीणतम मन के अंश को अर्पण करना होता है। इस अर्पण के साथ-साथ तुरीय अवस्था का अवसान होता है। इस गुरुदत्त शक्ति-लाभ के बाद माया राज्य त्याग करके योगमाया राज्य में प्रवेश करता है। समस्त तुरीय भूमि योगी के निकट योगमात्रा के राज्य रूप में प्रकाशित होती है। इस योगमाया के राज्य में जिस गति को अवलम्बन करके योगी उपासक अग्रसर होता है वहीं सरल गति है। इस गति में काल की क्रिया नहीं है। वरन् काल नाश की क्रिया रहती है। काल स्पर्श क्रमशः अल्प होते-होते समर्पण की क्रिया रहती है।

काल-स्पर्श क्रमश: अल्प होते-होते समर्पण के साथ-साथ एक बार ही त्याग हो जाता है। काल के जो अंतिम परमाणु है उसका नाम 'लव' है। योगी सभी अपरूप शक्ति सम्पन्न नहीं है। योगमाया के राज्य में योगी सञ्चरण करते-करते अपने सामर्थ्य के अनुसार काल का खेल पूर्ण करता है। सब योगियों का सामर्थ्य समान नहीं है। तदनुसार जिसका सामर्थ्य पहले क्षीण हो जाता है उसके पक्ष में उसी स्थल पर अर्पण हो जाता है। सुतरां विश्व राज्य अनन्त होने पर उपासक के पक्ष में सीमा विशिष्ट है। क्योंकि उपासक की अनुभव-शक्ति जितने दिन तक क्रियाशील रहती है, विश्व का उतना अंश उसके निकट प्रकाशित होके रहता है। उसके बाद विश्व रहने पर भी योगी के निकट उस का कोई अस्तित्व नहीं है। योगी इस समर्पण के साथ-साथ विश्व की पट-भूमिका से अवसर ग्रहण करता है एवं उसके साथ तुरीय भूमि का अवसान होता है। उसके बाद तुरीयातीत अवस्था का उदय तभी होता है जब उन्मना शक्ति के आकर्षण में साधक परम शिव के अथवा आत्मस्वरूप के साथ तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त कर सकते हैं। यह तुरीयातीत अवस्था ही है। यह तुरीयतीत अवस्था ही योगी के पक्ष में विश्वातीत अवस्था है। किन्तु ध्यान रहे कि विश्व अतिक्रम करके विश्वातीत में प्रवेश होता नहीं; क्योंकि विश्व अनन्त है। आत्मा की शक्ति का जो व्यापक स्फुरण है वही विश्वरूप में परिचित है। यह वास्तविक पक्ष में अनन्त है फलत: किसी भी योगी का यह सामर्थ्य है कि उसे अतिक्रम न कर सकने पर विश्वातीत में प्रवेश किस प्रकार होवे? परिणामत: कार्यक्षण में साधक का आत्मबल जहां क्षीण हो जाता है वहीं उसका विश्वसञ्चार समाप्त होता है एवं उसका आत्मसमर्पण संघटित होता है।

पूर्वोक्त विवरण से जाना जाता है कि विभिन्न योगी के विश्वातीत उन्मना पद प्राप्त करने पर भी एवं अद्वैतस्वरूप में स्थित होने पर भी, सबका विश्वसंचार एवं उसके साथ-साथ योगशक्ति का विकास समान नहीं। पूर्वोक्त विवरण से यह भी समझा जाता है कि यदि कोई बिन्दु अवस्था में अर्धमात्रा को प्राप्त हुआ अर्पण करने में समर्थ होता है वैसा होने पर तभी उसके पक्ष में उन्मना अथवा परम शिवभूमि में प्रवेश करने के लिए और कोई भी बाधा नहीं रहती। इस प्रकार विभिन्न योगियों का एकत्व होने पर भी किन्तु शक्ति के विकास की दिशा में पार्थक्य अस्वीकार करने का उपाय नहीं है। इसलिए प्राचीन शास्त्र समूह में देखा जाता है कि ऋषियों में अथवा योगियों में सबके ब्रह्मविद् होने पर भी शक्ति के विकास की दिशा में सबकी एक भूमि नहीं। तब भी यह सत्य है कि शक्ति और शक्तिमान अभिन्न कहने से प्रकारान्तर में सबकी ही अद्वैतस्थिति स्वीकार करनी ही होती है। बिन्दु से यह सकल भूमि उत्तरोत्तर अतिक्रम करके साधक को उठाना ही होता है, उसी का नाम शास्त्रानुसार इस प्रकार है—

बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद नादान्त, शक्ति, व्यापिनी उन्मना। यहाँ तक ही तुरीय अवस्था की सीमा है। इसमें बिन्दु में सर्वज्ञत्त्व और सर्वशक्तिसत्ता का प्रकाश होता है—यह सिद्ध अवस्था का प्रतीक है। किन्तु निरोधिका भेद न कर सकने पर नाद में प्रवेश नहीं किया जाता। निरोधिका है कहने से बिन्दु से नाद में अथवा नाद से बिन्दु में सञ्चार जगदम्बा महामाया की अनुमति के बिना सम्भव नहीं। बिन्दु में सर्वज्ञातृत्व सिद्ध होता है। किन्तु सर्वत्र इदंभाव रहता है। नाद में प्रविष्ट न होने पर यह इदंभाव अहंभाव में परिणत होता नहीं। इसकी क्रमिक पुष्टि उत्तरोत्तर अवस्था में होती रहती है। नादान्त अवस्था का विकास ब्रह्मरन्ध्र तक अवस्था प्राप्त होने पर हो सकता है। उसके बाद ही महाशून्य में प्रवेश करना होता है। इसके अनेक रहस्य हैं, यहाँ उनका विवरण देना अनावश्यक है। यहाँ ध्यान में रखना होगा कि इस सब पथ का अवसान अर्पण के साथ-साथ होता है—उसके बाद और सरल पथ भी नहीं रहता। सरल पथ तुरीय अवस्थान का वाचक है। उसके बाद उन्मना शक्ति के प्रभाव से अन्तः प्रवेश हो के रहता है। यह तुरीयातीत अवस्था की सूचन है। आपाततः प्रथम प्रकार की सूचना यहीं पर समाप्त की। इसके बाद फिर कभी दूसरी प्रकार की चर्चा करूँगा।

२७

अज्ञान के अन्धकार से आलोक में जाने का रास्ता क्या है?

मैं सोचता हूँ कि तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देने के पहले एक तत्त्व विश्लेषण करना होगा। सभी शास्त्र मुख से सुना है एवं कोई-कोई सौभाग्यवश से अनुभव भी कर सकते हैं कि मनुष्य मात्र ही अज्ञान के द्वारा आच्छन्न है। यह अज्ञान का आवरण उस के स्वरूप के आच्छादन के रूप में सब समय उसमें विद्यमान रहता है। यह बात नितान्त सत्य है। मनुष्य अज्ञान में डूबा रहता है एवं यथाकथञ्चित् जिस आलोक का परिचय पाके रहता है, वह बाह्य आलोक है स्वरूप का आलोक नहीं। चन्द्र, सूर्य, अग्नि, विद्युत नक्षत्रावली—यह सब ज्योतिर्मय है, यह बात सत्य है किन्तु यह बाह्य आलोक है। मनुष्य का अन्तरालोक नहीं है। उसी लिए मनुष्य के भीतर का अन्धकार इस सब आलोक के द्वारा तिरोहित नहीं होता। तुम प्रश्न कर सकते हो, यह जो अन्धकार है और आलोक की बात बोली गई है यह क्या रूपक की भाषा है? इसके उत्तर में हमारा वक्तव्य यही है कि यह रूपक की भापा नहीं है। यह वास्तविक स्थिति का लौकिक भाव में प्रकाशमात्र है। प्रत्येक मनुष्य चक्षु बन्द करने पर, भीतर में एक विराट अन्धकार देख पाता है—

बाहर का कोई आलोक वह अन्धकार भेद करके प्रवेश करने में समर्थ नहीं होता एवं इस अन्धकार को आलोक में परिणत करने में समर्थ नहीं होता। बाहर का आलोक जितना ही उज्ज्वल क्यों न हो उसके प्रभाव में भीतर का अन्धकार दूर नहीं किया जाता। साधारण मनुष्य भी यह समझ सकते हैं कि बाहर का आलोक बाहर की वस्तु है, उसके द्वारा बाह्य पदार्थ दृष्टिगोचर होते रहते हैं। बाह्य आलोक आन्तरिक आलोक का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। एवं जो आन्तरिक प्रकाश है, यही आत्मा का प्रकाश है। यह प्रकाश बाह्य प्रकाश से स्वतन्त्र है एवं यह प्रत्येक में निज में अनुभव करने में समर्थ है। चक्षु बन्द करने पर जो अन्धकार दृष्टिगोचर होता है उसका रहस्य अति विचित्र है। बाहर के किसी भी प्रकाश के द्वारा भीतर का अन्धकार अपसारित नहीं होता एवं होना भी सम्भव नहीं है। ध्यान में रखो कि भीतर का अन्धकार दूर न होने पर प्रत्येक मनुष्य एक व्यापक अन्धकार में मग्न रहता है यह बोलना होगा। बाह्य उपाय न रहने पर भी आन्तरिक उपाय विशेष के द्वारा यह अन्धकार दूरीभूत हो सकता है। यह जो भीतर का अन्धकार है—वही अज्ञान का अन्धकार है—वह कोटि-कोटि जन्म के संचित संस्कार का पुंजीभूत अन्धकार तम है—जिसको वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि से अपचेतन (Subconscious) और अचेतन (Unconscious) कह के वर्णन किया गया है। वह यह आभ्यन्तरीन अन्धकार के ही अन्तर्भूत है। एकमात्र ज्ञान के आलोक में यह अन्धकार शिथिल हो सकता है एवं अपसारित भी हो सकता है। यह अन्धकार अपनी सत्ता को ग्रास करके रहता है। केवल उतना ही नहीं—निज सत्ता यह विराट अन्धकार में मग्न हुई रहती है। यह अन्धकार न हटने पर देहात्मबोध हट नहीं सकता। विचार शक्ति के द्वारा देहात्मबोध, वास्तविक मोह अपसारित नहीं हो सकता। तीव्र विचारशक्ति के निकट देह को आत्मा मान नहीं सकते किन्तु उससे देहात्मबोध स्तम्भित हो सकता है किन्तु ज्ञान का सम्यक् उदय न होने तक वह अपसारित हो नहीं सकता।

चक्षु बन्द करने पर जो अन्धकार देखा जाता है, यह अन्धकार दिगन्तव्यापी है—वह हमारी सत्ता को घिरा के रहता है। चित्त-शुद्धि होने के बाद अन्धकार फिर नहीं रहता। तब अन्तः प्रदेश स्वच्छ आलोक में आलोकित देखने में पाया जाता है—अर्थात् समय पर चक्षु बन्द रहने पर भी दृष्टि के सम्मुख सर्वदा के लिए एक स्थिर आलोक का नित्य प्रकाश रह जाता है। यह जो अन्धकार है—यह विकल्प का समष्टि मात्र है। यह विकल्प रहने पर, कहने से ही, हमारा ज्ञान विकल्पभूमि पर उत्तीर्ण नहीं हो सकता। देहात्मबोध दार्शनिक विचार द्वारा दृढ़ होने पर भी अनुभव के राज्य में देहात्मबोध से मुक्तिलाभ नहीं होता। हमारी जितनी उपासना, ध्यान-धारणा चित्तशुद्धि प्राप्त होने के लिए है एवं चित्तशुद्धि का एकमात्र लक्षण है अन्तरस्थ अन्धकार का दूरीभूत होना।

विकल्प की समष्टि पुञ्जीभूत हुई अन्धकार के रूप में आत्मप्रकाश करती है। विकल्प निवृत्ति न होने पर यह अन्धकार तिरोहित होता नहीं। जो जप अथवा ध्यान नियमित भाव से करते रहते हैं वह समझ सकते हैं कि इस प्रक्रिया के प्रभाव से अन्तर्दृष्टि क्रमशः उन्मीलित होती है, तब यह भीतर का अन्धकार क्रमशः विगलित होते-होते अन्तराकाश अत्यन्त स्वच्छता प्राप्त करता है। चित्ताकाश में तब चिदाकाश प्रस्फुटित हो उठता है। मन्त्र जप के द्वारा विकल्प की निवृत्ति होती है। जिस प्रकार से हो विकल्प की निवृत्ति होने पर ही स्वच्छ चिदालोक अन्तर की दृष्टि के सम्मुख फूट उठता है। विकल्प का मूल अकारादि वर्णमाला है अथवा मातृका वर्ग है। योगी के पक्ष में स्वरूप दृष्टि के अनुरोध में इस सकल मातृका को विगलित करके निर्विकल्प स्थिति में प्रतिष्ठित होना उचित है। मातृका के गल जाने पर तरल प्रवाहशील नाद का प्रकाश होता है। विश्वव्यापक नाद प्रकाशमान रहता है किन्तु मातृकामूलक विकल्पजाल उसका अनुभव नहीं करने देता है। जब साधना के प्रभाव में नाद का विकास हो के रहता है, तब धीरे-धीरे हृदयाकाश आलोक में परिप्लुत होता है। दीर्घकाल के अभ्यास से यह आलोक स्थायी हो जाने पर चित्त सर्वदा इस स्वच्छ आलोक में आलोकित रहता है एवं चित्ताकाश तब चिदाकाश रूप में प्रकाशमान होता है। इस अवस्था में नेत्र बन्द करने पर भी भीतर में अन्धकार देखने में पाया नहीं जाता। तब एक स्वच्छ आलोक जिससे विश्वव्यापी सत्तारूप में निरन्तर प्रकाशमान होता है। वास्तविक पक्ष में यह आलोक अथवा प्रकाश अपनी खण्ड सत्ता को ढ़क के एवं निज का अहंबोध इस विराट आलोक में आश्रय करके प्रकाश पाता है।

जिनकी दृष्टि खुल गई हो वे स्पष्ट देख पाते हैं कि सम्यक् प्रकार से चित्त शुद्धि होने के बाद ज्ञानी के भीतर और बाहर एकमात्र यह चिदालोक विराजमान होके रहता है। ज्ञानी के हृदय में अन्धकार नहीं रहता एवं इस व्यापक आलोक के द्वारा वेष्टित रहता है। ज्ञानी पुरुष किसी को भी इस प्रकार की स्थिति में देख पाने पर समझ सकते हैं कि यह व्यक्ति ज्ञान लाभ किया है एवं चिदालोक द्वारा इसका भीतर और बाहर परिव्याप्त है। यह हुई बाहिर बात। भीतर का रहस्य यह जो ज्ञानी हैं, स्वयं इस विशाल आलोकमण्डली के केन्द्र में सब समय अपने को देख पाते हैं। यह जो आलोकमण्डल है, यह चिदालोक में आलोकित चिदाकाशमात्र है। यह केवल आंशिक स्फुरण नहीं है, इसको ही प्राचीन योगीमण्डल प्रभावमण्डल बोले हैं। जिन का चित्त इस प्रकार निर्विकल्प आलोक में आलोकित है, उनका देहात्मबोध नहीं रहता। व्यापार के लिए एवं लोक शिक्षा के लिए वे मध्याकर्षण शक्ति को आश्रय करके देह लेके खेल कर सकते हैं। किन्तु वास्तविक पक्ष में उनमें एकमात्र खेचरी शक्ति कार्य करती रहती है। खेचरी शक्ति, भूचरी शक्ति एवं तदनुरूप दिक्चरी अथवा गोचरी शक्ति सभी मुक्त योगी की

इच्छा के अधीन है। इस दृष्टि से देखने पर प्रत्येक मुक्त पुरुष एक ज्योतिर्मण्डली में अवस्थित होता है। भीतर जितने दिन अहंकार रहता है उतने दिन इस परिच्छिन्न देह को अहं बोलने का मन होता है, एवं तदनुसार इस विराट् जगत् को अपने बाहर ज्ञेय रूप में देख पाता है किन्तु अन्तरालोक परिस्फुट होने पर अपना गृहीतृभाव अथवा ग्राहकत्व नहीं रहता। अपने को परप्रमाता रूप में जान सकता है। परप्रमाता भाव का उदय होने पर यह समग्र विश्व अपने ही अन्तर्मुक्त बोल के अनुभव किया जाता है। साधारण ग्राहक अथवा ग्रहीता देहात्मबोध के द्वारा आक्रान्त रहता है, बोलने से, विश्वजगत् को अपने बाहर करने पर विश्व उसके बाहर नहीं रहता—वह परप्रमाता के अर्न्तमुख हुआ पड़ता है। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना होगा कि अन्धकारमय चित्त विकल्प की आवासभूमि है एवं उतने दिन पर्यन्त आत्मसाक्षात्कार होने की सम्भावना नहीं। आत्म-साक्षात्कार होने पर भीतर में जिस प्रकार आलोक ज्वलित हो उठता है, उसी प्रकार बाहर में भी समग्र विश्व पूर्ण अहंरूप में अनुभव में होता है। यही प्रेम-राज्य है, उत्थान का प्रथम सोपान।

पहले जो कहा है, उस सम्वन्ध में लक्ष्य करने पर और भी अनेक रहस्य अनुभव में आते हैं। यह जो मैं ने अन्तरस्थ आलोक की बात बोली, वह उदित न होने तक हृदय अन्धकार में आच्छन्न हुआ रहता है। यह अन्धकार इच्छा वासना एवं संस्कार की समष्टि है। यह सब प्रत्येक देहविशिष्ट आत्मा के भीतर विद्यमान रहता है। जन्मजन्मान्तर सम्बन्धी जितने भी कर्मसंस्कार है, उसी में संचित रहते हैं। यह सब संस्कार वासनारूप एवं कर्माशयरूप दोनों ही हैं। जन्म के क्रमानुसार क्रमबद्धभाव में यह आवर्तन के लिए उन्मुख हुआ रहते हैं। इच्छा अर्थात् वासना और संस्कार एक प्रकार वायु की ही क्रिया विशेष है। जब ज्ञान के आलोक में संस्कार तिरोहित होता है तब चित्त शुद्ध आलोक में आलोकित हो उठता है। इन सब संस्कारों से मनुष्य अपने सञ्चित कर्म का सन्धान पाता रहता है। यह सब कर्मसंस्कार स्तर स्तर पर काल के आवर्त्त में स्पन्दित होते हैं। इनमें क्रम है किन्तु वह अत्यन्त दुर्लक्ष्य है। जब वह लक्ष्य कर किया जा सकता है तब लाखों-लाखों जन्म के संस्कार इच्छानुसार देखने में पाये जाते हैं। अपनी सत्ता का त्याग न करने पर कोई संस्कार दूर नहीं रहता। यह सब संस्कार साक्षात्कार के फलस्वरूप मनुष्य अपने पूर्वजन्म एवं इस जन्म के समग्र चित्र अपरोक्षभाव में अनुभव कर सकता है। कर्माशय हो अथवा वासना हो—दोनों ही वायु के क्रिया विशेष में एवं रेणु रूप में उपलब्धि गोचर होते हैं। अन्तर्दृष्टि उनके द्वारा आच्छन्न हो जाती है। इसका ही नाम चित्त की अशुद्धि है। इस अशुद्धि के मूल में शब्द की क्रिया रहती है एवं शोधन प्रक्रिया में मूल में भी क्रिया विद्यमान है। हृदय अति गुप्त स्थान है। मनुष्य के देह में वही एकमात्र स्थल है जहाँ शुद्ध आकाश अथवा

शून्य विद्यमान रहता है। किन्तु मनुष्य उसका सन्धान नहीं पाता क्योंकि यह आकाश वायुमण्डल में आच्छन्न रहता है। यह वायु ही वासना रूपी वायु है जो हृदय को मलिन करके रखती है। चित्त शुद्धि होने पर यह वायुहीन आकाश वायु-मण्डल में आच्छन्न रहता है। यह वायु ही वासनारूपी वायु है जो हृदय को मलिन करके रखता है। चित्तशुद्धि होने पर यह वायुहीन आकाश उज्ज्वलरूप में प्रकाश-मान होता है। इस का ही नाम हृदयस्थ अन्तर्देवता का आविर्भाव है। यही जीवात्मा का जागरणस्वरूप है।

जब यह आकाश अर्थात् अन्तराकाश स्वच्छ आलोक में आलोकितरूप में प्रकाशमान होता है तब देहात्मबोध नहीं रहता, रह सकता नहीं। वही अन्तर्दृष्टि का जागरण है। इस अवस्था में एक अनन्त चिदालोकमय व्यापक आकाश अहं-बोधको घेर के रहता है। इस अनन्त चिदालोक में योगी की इच्छाशक्ति कार्य कर के रहती है। इस अवस्था में आत्मा अपने को एकमात्र 'अहं' को पहचान सकता है। यह अहं परप्रमातारूपी चरम 'अहं' है यही एकमात्र अहं है। तब आत्मा अपने को पूर्ण अहंरूप में शिवभाव में अनुभव करता है। तब विश्वजगत् रहता नहीं। किसी प्रकार का दृश्य भी रहता नहीं। दृश्य बोलने से यहाँ रूपरसादि को लक्ष्य किया है एवं अन्तःकरण ग्राह्य भाव को भी ग्रहण किया है। यही विश्वातीत आत्मसत्ता है। यह विश्वातीत होने पर भी समग्र विश्व इस में अभिन्न रूप में विद्यमान रहता है। इच्छा का उदय न होने तक उस विश्व का सन्धान पाया नहीं जाता। इस में अर्थात् इस आलोक में नहीं ऐसा कुछ नहीं है। इस में सभी है। किन्तु अभेदरूप में है अर्थात् अहं के साथ अहं रूप में है, इदंरूप में नहीं। देश और काल सामयिक भाव में यहाँ अभिन्नरूप में प्रकाशमान होता है। त्रिकाल यहाँ एक है। सन्निहित और व्यवहित सब देश यहाँ एक है देश और काल भी यहाँ एक है। किन्तु इच्छा का स्फुरण होने पर अपने स्वरूप में प्रकाश होता है। तब पूर्ण अहं जिस से टूट जाता है, उस का एकांश परिच्छिन्न प्रमातारूपी मायिक द्रष्टा प्रकाश पाता है एवं अपरांश यह मायिक प्रमाता प्रमेय प्रकाशमान होता है। यह प्रमेय ही शून्य है। यही भविष्य विश्व का आधार है। प्रमाता प्रमेय रहने पर उस का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। इस प्रकार इस अपरिच्छिन्न चिदालोक में इच्छा-शक्ति के प्रभाव में देश और काल के साथ विश्वचित्र का आविर्भाव होता है विस्तारित विवरण अनावश्यक है।

यह जो विश्व का आविर्भाव है यह अत्यन्त तत्परता के साथ समझने का व्यापार है। तब विश्व का आविर्भाव होता है यह सत्य है एवं विश्वातीत अहं भी रहता है, यह भी सत्य है। विश्व में देशकाल का विचित्र खेल खेला जाता है। विश्वातीत में एकमात्र अखण्ड अहं ही विद्यमान रहता है। उन्मीलन समाधि में यह विश्व और विश्वातीत अखण्ड रूप में एक साथ देखने में पाया जाता है।

निमीलन समाधि में विश्व तिरोहित हो जाता है, एकमात्र विश्वातीत सत्ता ही रहती है। हृदय पूर्ण प्रकाश का स्थान है। जिसे संसारचक्र कहा जाता है। वह देहात्मबोध के ऊपर प्रतिष्ठित है। एक अखण्ड कमलरूप में समग्र स्वरूप प्रकाशमान होता है। इसमें कमल की कर्णिका हृदय में ग्रसित कर के, वायु के कम्पन से अतीत, नित्य निर्मल, शुद्ध प्रकाशमय है। शेष अंश कमल का दल एवं केसर इत्यादि यथापूर्व बोला है। उसकी भी बहिर में शुद्ध ज्योति है। शुद्ध ज्योति में अहं अभिमान रहता नहीं। किन्तु कर्णिका में, बिन्दु में अहं पूर्णभाव में रहता है। फिर भी सबको लेकर एक अखण्ड अनुभव है।

इस प्रसङ्ग में और एक बिषय अनुधारण के योग्य है जिस को साधारणतः मन बोला है अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार समष्टिरूपी जो अन्तःकरण है, इसका स्थान कहाँ है ? एक सत्ता पुरुष है, द्वितीय सत्ता अन्तःकरण मन है, तृतीय सत्ता इस अन्तःकरण से बहिर्निसृत विभिन्न धारा है जिसे इन्द्रिय कहते हैं—इस इन्द्रिय पर्यन्त भूमि में इस धारा के द्वारा जो प्रकाशित होता है, वह पञ्चभूतात्मक बाह्यजगत् है। साधारण मनुष्य और विशिष्ट योगी, दोनों में पार्थक्य है। इन्द्रिय सकल अन्तःकरण से बहिर्मुख विषय की दृष्टि में लक्ष्य करके निर्गत होते हैं। विषय के आकर्षण में इन्द्रियाँ बहिर्मुख से विषय ग्रहण करती हैं। अन्तःकरण अर्थात् मन का प्रभाव उससे ऊपर विशेष प्रकार कार्य करने में समर्थ नहीं अर्थात् दृष्टान्तरस्वरूप कल्पना करो, सामने एक रूप है—स्थान आलोक में आलोकित है। रूप भी इन्द्रिय-ग्राह्य है, उसमें सन्देह नहीं है। इस रूप का प्रकाश होने पर इन्द्रियाँ जो बहिर्मुख हैं, वह अवश्य ही ग्रहण करती हैं। मन का इस प्रकार कोई भी सामर्थ्य नहीं है, जो इस प्रकार इन्द्रियों को अपने विषय-ग्रहण में निरोध करे। प्रत्याहार का रहस्य विभिन्न है। प्रत्याहार होने पर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की दिशा में आकृष्ट हुई संयुक्त होने पर वहाँ से इन्द्रियों को लौटा लाता है। वह पृथक् व्यापार है। किन्तु मैंने जो कहा उसका तात्पर्य यही कि पुरुष यदि इच्छा करे, वैसा होने पर अपने विषय की दिशा में अग्रसर हुआ, उनके साथ संयुक्त नहीं होता। साधारण अवस्था में यह सम्भव हो सकता नहीं। इसका एकमात्र कारण यही कि मन का अधिष्ठाता पुरुष यथोचित सामर्थ्य सम्पन्न नहीं है। पुरुष का वह सामर्थ्य नहीं जिसके प्रभाव में वह इच्छा करने पर उसका मन बहिर्मुख होवे नहीं एवं इन्द्रिय विषयसान्निध्य सत्व में भी अपना-अपना कार्य करे नहीं। इससे समझा जाता है कि लौकिक पुरुष शक्तिहीन है। महाशक्ति की कृपा होने पर पुरुष जब शक्ति सम्पन्न होता है तब उसकी इच्छा के प्रभाव में विषय के सन्निधान में भी इन्द्रिय विषय में युक्त होती नहीं। यह उच्च स्तर की अवस्था है। साधारण पुरुष महाशक्ति का संस्पर्श न पाकर उसका इस प्रकार का प्रभाव होना ही सम्भव नहीं, जिसके फलस्वरूप उसके इच्छानुसार इन्द्रियाँ विषय के सान्निध्य में रहते हुए भी

अपने-अपने कार्य से उपरत रहती हैं। ध्यान रहे यह प्रत्याहार का व्यापार नहीं है।

यह जो आत्मा एवं मनन के सामर्थ्य की बात कही गई, इसके मूल में स्वातन्त्र्य शक्ति का खेल रहता है। स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न पुरुष ही महापुरुष है। इस प्रकार महापुरुष जब पूर्ण सत्ता में अधिष्ठित हुआ प्रकाश होता हैं तब वह निज के स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। तब समग्र विश्व उसके निकट पृथक् सत्ता लेके रह सकता नहीं। एकमात्र महाप्रकाश विद्यमान रहता है एवं यही पुरुष अहं-रूप में उसी महाप्रकाश के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है—उसको घेर के अनन्त अपरिच्छिन्न चिदालोक शान्तभाव में विराजित होता है। उनकी इच्छा न होने पर त्रिकाल और अनन्त देश एवं समग्र विश्व वहां स्तम्भित होता है। इच्छा उदय होने पर जो इच्छा का विषय है वही प्रकाश है, बाधा देने के लिए कोई नहीं। यह पुरुष देहाभिमान में बद्ध नहीं एवं यही महापुरुष है। उनकी दृष्टि में अखण्ड अनन्त चिदालोक नित्य वर्तमान है। वहां कुछ भी नहीं, फिर भी वे जो इच्छा करें वह सब है। देहाभिमान रहने पर यह कभी भी सम्भवपर हो सकता नहीं। किन्तु यह भी जानना होगा कि उस अवस्था के साथ में सञ्चित देहाभिमान रहने पर भी कोई बाधा नहीं एवं उस अभिमान के ग्रहण के साथ-साथ जागतिक दृष्टि में जागतिक खेल का अनुभव कर सकता है वे कृत्रिम अभिमान लेकर जागतिक प्रकार से खेल करते हैं और स्वयं सिद्ध अभिमान के प्रभाव में विश्वातीत नित्य सत्ता में सर्वदा विराजते हैं। इतनी बातें कही गईं उस हृदय के अन्धकार को आश्रय करके। हृदय का अन्धकार दूर कर न सकने पर इस प्रकार महिमा प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

२८

प्रासादविज्ञान का रहस्य क्या है ?

इस बार एक गुह्य दृष्टि का बहिरावास अवलम्बन करके प्रासादविज्ञान के सम्बन्ध में और भी दो चार बातें बोलता हूँ। यह उपदेश का विषय नहीं है, विचार का विषय भी नहीं है एवं साधना के कृत्रिम मार्ग का तत्त्व भी नहीं है। इसलिए अत्यन्त सावधानी से एवं अत्यन्त गुप्त इङ्गित अवलम्बन करके दो एक परम तत्त्व के आभास के सम्बन्ध में किञ्चित् मात्र बोलने की चेष्टा करता हूँ। आगमशास्त्र में किसी-किसी प्रस्थान में परम मार्ग के विवरण मुख में कभी-कभी महाकाल के साथ पराशक्ति के विपरीत रमण की बात सुनने में पाई जाती है।

आरोहणक्रम में इसके विपरीत रमण की तत्त्वचिन्ता करने पर इस प्रासादविज्ञान का ही एक गुह्य तत्त्व जानना होगा। क्योंकि आरोहक्रम में रुद्रावस्था से भैरवावस्था में प्रविष्ट होके उसकी चरम अभिव्यक्ति प्राप्त होनी होती है। भैरव में अवान्तर भेद है। उसके बाद परासंवित् और परप्रमाता का अधिगम होता है। महाकाल भैरव के ही अन्तर्गत है। महाकाल अवस्था पराशक्ति की अव्यवहित पूर्णावस्था है क्योंकि महाकाल सत्ता अतिक्रम करने पर पूर्णत्व के द्वारदेश में उपस्थित हुआ जाता है। पुरुष और प्रकृति का स्वरूप प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार विचार करने पर यही निर्णीत है कि पुरुष प्रवृत्ति का लक्षण है एवं प्रकृति अथवा स्त्री संस्थान का लक्षण है। पुरुष प्रवर्त्तक भाव में विशिष्ट है, तदनुसार प्रासादपरा से प्रकृति की पुरुषभाव प्राप्त होने की प्रारम्भिक दृष्टि उन्मीलित होती हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इस अवस्था में ईश्वर और ईश्वरी विगलित हुई विशुद्ध ईश्वरी में पर्यवसित होने के बाद सप्तदशी अथवा परा अद्वैत अवस्था का उदय होता है। यह अत्यन्त गुह्य विषय है। यही सप्तदशी कुमारी तत्त्व है। षोड़शी सीमन्तिनी तत्त्व है। बौद्धों के प्रज्ञापारमिता के रहस्य की जिन्होंने आलोचना की है, वे समझ सकते हैं कि प्रज्ञापारमिता को "बोधिसत्त्वानां जननी तथा बुद्धानाम् अपि जननी" यह बात क्यों बोली हैं, कोई-कोई शक्तिसाधक सम्प्रदाय महाशक्ति को जीव का मातृस्वरूप एवं शिव का भी मातृस्वरूप निर्देश किए हैं। इसका रहस्य अन्तर्दृष्टि के गम्भीरतम प्रदेश में प्रवेश न करने पर हृदयङ्गम करना कठिन है।

और एक विषय इस प्रसङ्ग में दृष्टि में आता है। पञ्चदशी काल के साथ सम्बन्ध विशिष्ट होने के कारण क्रियात्मक होता है। काल की पञ्चदश कला से क्रिया और परिणाम संघटित होके रहते हैं। किन्तु षोड़शी जिसे निष्क्रिय अमृतकला कहके वर्णन किया है वह कालातीत और नित्यस्थिर है। दोनों ही पूर्णत्व के एक भाग को समझाते हैं। किन्तु यथार्थ पूर्णत्व जहाँ है वहाँ अनन्त क्रिया में निष्क्रियत्व अखण्डभाव में विद्यमान रहता है। एवं जो निष्क्रिय है वही अनन्त क्रियारूप में प्रकाशित रहता है। इस समय सक्रिय और निष्क्रिय का कोई भी विरोध नहीं रहता। इस स्थान पर पूर्ण से निरन्तर क्षरण होने पर भी अवशिष्ट जो रहता है वह पूर्णत्व ही है "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेव अवशिष्यते।" सप्तदशी अथवा कुमारी तत्त्व का यही स्वरूप है। यह नित्य कुमारी है। नाना दिशा से इसका दर्शन किया जाता है। किन्तु यह परम स्थिति का स्वरूप है। इस कुमारी से ही विश्व जगत् का प्रसव होता है। फिर भी कुमारी का कुमारीत्व भङ्ग नहीं होता। प्राचीन खृष्टीय कैथोलिक सम्प्रदाय वर्जिन मेरी के 'Immaculate Cenception' के सम्बन्ध में जो कुछ बोले थे वह इस प्रसङ्ग में आलोच्य है। सप्तदशी अति गम्भीर रहस्य है। प्राचीन शिवसूत्र में "इच्छाशक्तिरुमा कुमारी"

नाम का एक सूत्र है। यह कुमारी तत्त्व ही जगन्माता श्री श्री उमा का स्वरूप रहस्य है। इसके परे जो अव्यक्त रहस्य रहा है वह बाद में बोलूंगा।

दृष्टि विशेष लेके देखे जाने पर समझा जाता है कि इस पराशक्ति के दो रूप सिद्धमण्डल में आलोकित होके रहते हैं। जिसको इच्छारूपा वर्णन करके उमा नाम से निर्देश किया गया है, उसके साथ वाक्रूपा अर्थात् परावाक्रूपा प्रज्ञा अर्थात् शुद्धविद्या का क्या सम्बन्ध है, उसको हृदयङ्गम न कर सकने पर अद्वैत के अन्तःप्रदेश में प्रवेश करना सम्भव नहीं। इच्छा से भी सृष्टि होती है। दोनों ही पराशक्ति के ही नामभेद हैं, उसमें सन्देह नहीं। लेकिन जो सूक्ष्मदृष्टि के द्वारा दोनों का भेद किया हुआ है, उसके अनुसार दोनों की सृष्टि में भी भेद मानना होगा। अवश्य सृष्टि से परे की अवस्था में किसी भी प्रकार भेद मानने का प्रयोजन नहीं रहता। शक्ति की एक दिशा इच्छा है, दूसरी दिशा ज्ञान; क्योंकि परावाक् शुद्धविद्या का भी ज्ञानस्वरूप है। आपाततः क्रिया-शक्ति को छोड़ देने पर ही पराशक्ति की इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप तीन कोनों की बात मन में रखनी होगी। इच्छाशक्ति कामस्वरूप है, इसका अधिष्ठाता ईश्वर है। प्रज्ञाशक्ति अथवा शुद्ध विद्या ज्ञानस्वरूप है। इसका अधिष्ठाता सदाशिव है गुरु कृपा से दीक्षा के प्रसङ्ग में जो सृष्टि का वर्णन पाया जाता है वह ज्ञानसृष्टि अथवा शुद्धविद्या के अन्तर्गत है। मायिक सृष्टि इच्छा के अन्तर्गत है। आरोहमार्ग की सामयिक स्थिति की आलोचना करने पर समझा जा सकता है तो एक दिशा में काल से षोड़शी में अर्थात् कामेश्वर कामेश्वरी में प्रवेश का पथ खुल जाता है, उसी प्रकार अपरदिशा में काल से कालातीत में जाने के पूर्व महाकाल का चित्र भेद कर लेना होता है। काल से महाकाल में प्रवेश करना, उसके बाद कालातीत आत्मसत्ता में प्रवेश करना होता है। यदि विपरीत रमण की अवस्था महाकाल की अवस्था कह के मान लिया जाए, वैसा होने पर उसके बाद ही परप्रमाता के सन्धान का सूत्रलाभ होके रहता है। काल का आवर्त्त है बायाँ अथवा दायाँ— इन दो आवर्त्तों के संघर्ष में परिणाम क्रिया संघटित होती है। प्राचीन आचार्यगण कहते थे कि काल से भावभेद होता है। यह भावभेद परिणाम का ही दूसरा नाम है। पूर्णसत्ता तो काल के अतीत है ही, महाकाल के भी अतीत है। काल से महाकाल में भेद है एवं महाकाल से परमसत्ता में भेद है। काल में परिणाम है। एवं यह परिणाम इदं भाव को आश्रय कर के घटता है। महाकाल में काल का परिणाम नहीं रहता किन्तु इदंभाव विद्यमान रहता है। परमसत्ता में इदंभाव भी नहीं एवं परिणाम भी नहीं है। फलतः काल और महाकाल दोनों के अतीत है। प्रासादविद्या की क्रिया निःशेष होने पर काल नहीं रहता, इदंभाव भी रहता नहीं एवं प्रतियोगिहीन नित्य कुमारी सत्ता रहती है सप्तदशी इसका ही

दूसरा नाम है। यह अद्वैतस्थिति है। इसी अद्वैतस्थिति के बाद वास्तविक निर्विकल्पस्थिति आती है, जो इसी अद्वैत स्थिति की ही परिपक्वतम अवस्था है, उस स्थिति में अद्वैत सत्ता भी एक हिसाब से विकल्परूप में भासमान होती है। वह अवस्था द्वैताद्वैत से विवर्जित है। कोई-कोई इसे निर्विकल्प कहते हैं। जो भी हो, सप्तदशी के ऊर्ध्व में एकमात्र गुरुपादुका भिन्न दूसरा कोई लक्ष्य करने को रहता नहीं। पादुकात्रय आगमशास्त्र में शिवपादुका, शक्तिपादुका और सामरस्यपादुका नाम से अभिहित होके रहता है। उसके बाद अर्थात् सामरस्य के ऊर्ध्व में और कुछ भी कहने को रहता नहीं। यह निर्वाण कैवल्यरूप निर्वाण से विलक्षण है। इसके बात वाक्य का प्रसार होता नहीं। यह अवस्था अथवा स्थिति अनित्य से अतीत है, नित्य के भी अतीत है। कई इसे परमपद कहते हैं किन्तु यह वर्णन के अयोग्य है। वस्तुतः अद्वैत सत्ता पर्यन्त ही मानव के चरम लक्ष्य रूप में वर्णित होने के योग्य है, किन्तु लक्ष्य के अतीत अलख होने पर भी यह भी जानना आवश्यक है।

२९

मनुष्य मात्र के ही जीवन को अभिनव रूप में क्या वर्णन किया जा सकता है?

यह अति गम्भीर प्रश्न है एवं बहुत रहस्य उद्घाटन न करने पर इसका प्रकृत समाधान भी नहीं किया जाता। मनुष्य मात्र का ही जीवन अभिनय का स्वरूप है, यह खूब ही सत्य है। पक्षान्तर में इसको अभिनय बोलने की कोई सार्थकता नहीं है, यह भी सत्य है। मनुष्य जितने दिन अहङ्कार विशिष्ट है उतने दिन यह बोलना ही होगा कि मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके प्राक्तन कर्म का फल है एवं उसके वर्त्तमान जीवन का फल वह भविष्यत् में भोग करेगा। वर्त्तमान जन्म में ही भोग करके अथवा जन्मान्तर में, एवं जन्मान्तर में होने पर भी एक जन्म में अथवा विभिन्न जीवन में—यह स्वतन्त्र बात है। वर्त्तमान जीवनधारा केवल प्राक्तन कर्म का भोगांश है, यह सत्य नहीं। यह भावी जीवन का बीजस्वरूप है, यह भी सत्य है एवं ये दोनों सत्य मनुष्य के स्वभावसिद्ध कर्तृत्वाभिमान के ऊपर निर्भर करते हैं। मनुष्य जितने दिन कर्तृत्वाभिमान के द्वारा आच्छन्न रहता है उतने दिन उसके जीवन को अभिनय कहा नहीं जाएगा। मनुष्य इस जीवन में ही अभिमान विशिष्ट हो के कर्म करता है एवं उक्त कर्म का फलभोग भी इस जीवन में ही करता है—इस जीवन में न होने पर भी जन्मान्तर में—एक अथवा

अधिक जन्म में अवश्य ही करता है। (अवश्य पूर्ण ज्ञानोदय के होने पर)। यह हुई एक दिशा की बात। इस स्थल में मानव-जीवन कर्म करने का सोपान है एवं कृत-कर्म का फल अनुभव करने का क्षेत्र है।

किन्तु जब मनुष्य अहङ्कार से मुक्त होता है एवं अपने को निष्क्रिय और अकर्त्ता कहके समझने में समर्थ होता है एवं साथ-साथ प्रकृति के अधिष्ठाता परम पुरुष का दर्शनलाभ करता है तब वह समझ सकता है कि जो कोई अज्ञान अवस्था की बात ध्यान में क्यों न रखे, उसमें किसी प्रकार वास्तव कर्तृत्व नहीं है। गुणमय प्रकृति के प्रेरणा के फलस्वरूप वह कर्त्ता होके विभिन्न प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करके रहता है। वस्तुतः वह कर्म का कर्त्ता नहीं है। प्रकृति का सञ्चालक परम पुरुष ही वास्तविक कर्त्ता है। यह परम पुरुष मनुष्य के हृदय में अधिष्ठित रह के उसके शुभ और अशुभ कर्म प्रेरित करते हैं। कर्म प्रकृति के माध्यम से और अधिष्ठाता परमात्मा के द्वारा ही सञ्चालित प्रकृति के द्वारा निष्पन्न हो के रहता है। जीवात्मा अहङ्कार के मोह से मोहित हुआ अपने को कर्त्ता समझता है एवं तदनुसार कर्मफल भोग करने के लिए बाध्य होता है। ज्ञान का पूर्ण उदय होने पर मनुष्य की आतमा जो स्वतः निष्क्रिय है उसे वह समझ सकता है। उसके बाद वह देख पाता है, परमपुरुष माया के सूत्र में जिसको जिस प्रकार नचा के रहता है वह तदनुरूप कर्म करने को बाध्य होता है एवं अज्ञानवश अपने को ईश्वर-प्रेरित न समझने से समस्त कर्म का कर्त्ता अपने को ही समझ बैठता है। इस स्थल पर मनुष्य को कर्त्ता और भोक्ता होने से कर्म-यज्ञ का फल सम्पादन करना होता है। विशिष्ट मनुष्य अहङ्कार वर्जित होने से अपने को परमपुरुष के द्वारा चलाते देख पाता है। इस अवस्था में वह ज्ञातसार में जितना कर्तृत्वाभिमान परिहार करता है एवं समस्त कर्म परित्याग-पूर्वक कर्मकर्त्ता परमेश्वर के शरणागत होता है। पहले भी परमेश्वर कर्त्ता थे अब भी वे कर्त्ता हैं। किन्तु पहले जीवात्मा अपने को कर्त्ता मानता था, किन्तु अब वह अपने को कर्त्ता नहीं मानता। अब वह अपने को कर्त्ता का अधिष्ठान क्षेत्र कह के मानता है। जितने दिन वह अपने को कर्त्ता कह के जानता है, उतने दिन कृतकर्म का संस्कार उसके चित्त को मलिन करता है। लेकिन अब वह इस सब संस्कार से मुक्त है। उसको कर्त्तृत्व-अभिमान नहीं है। वह विश्वकर्त्ता के शरणागत है। इस अवस्था में वह सब कर्म के अतीत हैं, ऐसा बोध उसे हमेशा ही रहता है।

किन्तु यह बोध रहने पर भी प्राक्तन कर्म के फलस्वरूप उसके देह में जो अशुद्धता आई थी वह विद्यमान रहती है। शरणागति के फलस्वरूप वह जितने भी कर्म से मुक्त होता है। किन्तु प्राक्तन कर्म की मलिनता अब भी उसके चित्त का त्याग करती नहीं। इस अवस्था में ज्ञान का उदय होने पर वह साक्षीरूप में स्थिति-मात्र करता है। किन्तु प्राक्तन कर्म के फलस्वरूप मलिन देहादि तब भी विद्यमान

रहते हुए, उसके चैतन्य के शरणागति के पथ में प्रतिबन्धक के रूप में रहता है। शरणागति के फलस्वरूप जीव भगवत्शक्ति उसके देह को पूर्णभाव में शोधन की क्रिया द्वारा परिशुद्ध कर लेती है। इस अवस्था में आधारशुद्धि घटती है। क्योंकि भावशक्ति के संस्पर्श में शरणागत सब आधार में ही मुक्तिलाभ करके रहता है। यह सकल आधार अत्यन्त योग्य आधार है। इस सब क्षेत्र में आत्मा का कर्तृत्वाभिमान नहीं है एवं देह भी अनादि सञ्चित कर्मफल से मुक्त है। यह सब मुक्तदेह निर्मल एवं निरन्तर भगवत् इच्छा के अनुकूल भाव में क्रिया करके रहती है।

सब विशुद्ध आधार को आश्रय करके श्रीभगवान् उसकी लीला नाट्य-रचना एवं अपने में उसके अभिनय क्षेत्र में सूत्रधार के रूप में कर्म करके रहते हैं।

यह सब जीव ज्ञान प्राप्त हुए एवं भगवत्प्राप्ति के फलस्वरूप विशुद्ध देह-सम्पन्न होके श्रीभगवान् के विश्वनाट्य के अभिनेता एवं अभिनेत्री के रूप में कार्य करके रहते हैं। यह विश्वनाट्य विश्व का उद्धार करने का लीलाभिनय है। शरणागति के बाद भगवत्शक्ति के द्वारा सञ्चालित मुक्त जीवसमूह विश्व-नाट्य का अभिनेता और अभिनेत्री है। यह सब मुक्त पुरुष श्रीभगवान् की क्रियाशक्ति के द्वारा सञ्चालित हुए उस विशाल जगत् रूप नाट्यगृह में अपने-अपने अधिकार के अनुसार कार्य करके रहते हैं। भगवान् सूत्रधाररूप में इस सकल मुक्तपुरुषरूप नट-पुत्तलिका को विभिन्न प्रकार से नचाते रहते हैं। इसी को अभिनय कहते हैं। यह विशाल विश्व रङ्गभूमि है। जितने अभिनेता के सदृश हैं एवं विश्वनाट्य के सञ्चालक श्रीभगवान् सूत्रधार के रूप में सबके सञ्चालक हैं। वे जिसको जिस प्रकार से नचाते हैं, वह उसी प्रकार से नाचते हैं। उनके शुभ-अशुभ विचार वही हैं। वे सूत्रधार के रूप में यन्त्रस्वरूप हैं। सूत्रधार जिसको जिस प्रकार सञ्चालित करते हैं वे उसी प्रकार कार्य करते रहते हैं। कोई अभिनेता अथवा स्वतन्त्र इच्छा सम्पन्न हुई इस नाट्य-गृह में कार्य कर नहीं सकती। यह विशाल नाट्यशाला श्रीभगवान् के जगत् उद्धार का खेल है। वे सूत्रधार हैं। जो कर्मी अर्थात् अभिनेता हैं, वे उनके हाथ की पुत्तलिका मात्र हैं। इसके द्वारा ही विश्वकल्याण साधित होना है।

परिणामतः तुम समझ सकते हो कि स्थूल दृष्टि से समग्र विश्व ही उनकी नाट्यलीला का अभिनय होने पर भी जो अहङ्कार विशिष्ट हैं वे जितने दिन अहङ्कार से वर्जित हुए सूत्रधार के हाथ में आत्मसमर्पण नहीं करते उतने दिन वे इस विशाल नाट्यशाला के अभिनय का सौभाग्य प्राप्त कर नहीं सकते, क्योंकि कर्तृत्वाभिमान लेके अभिनय नहीं चलता। पहले अकर्त्ता बनना होगा, उसके बाद सब भविष्यत् क्रिया का अधिकार है। जब तक पूर्णरूप से आत्मशुद्धि नहीं होती, तब तक इस विश्वनाट्य में अभिनय करने की योग्यता नहीं होती। आत्मसमर्पण के बाद इस शोधन का कार्य भगवान् स्वयं करते हैं, क्योंकि यही उनकी प्रतिश्रुति

है। यह शोधनक्रिया सम्पन्न न होने पर अभिनय के कार्य में व्रती होना सम्भव नहीं। जो सब जीव अहङ्कारविशिष्ट हैं वे ये नाट्याभिनय करने में भी समर्थ नहीं, देखने में भी समर्थ नहीं। उनके लिए यह विशाल जगत् प्राक्तन कर्म के फलभोग का क्षेत्रमात्र है। परिणामत: विश्व के जीव अपने जीवन को अभिनयरूप में प्राप्त करते हैं—वैसे नहीं कहा जाता। अपना भोग समाप्त होने पर, ज्ञान के उदय होने आत्मसमर्पण के फलस्वरूप, शरणागति प्राप्त होने पर एवं जीव का दायित्व भगवान् सब प्रकार ग्रहण करने पर वे सब जीव भगवत्शक्ति के द्वारा शोधित हुए विश्वकल्याण के उपयोगी अभिनयकार्य में व्रती होते हैं। यही विश्वाभिनय है। इस अभिनय का दर्शक कौन ? दर्शक होने पर इन सब अभिनेताओं का साक्षी चैतन्य है। इस अभिनयदर्शन में जो रस का उदय होता है, वही वे आस्वादन करते रहते हैं।

विश्वनाट्य के सम्बन्ध में और भी दो-एक गुह्य बात बोलने की चेष्टा करूंगा। पहले जो बोला था वह एक भाग मात्र है किन्तु जब श्रीभगवान् की महा-कृपा से पूर्ण दृष्टि खुल जाती है तब और भी गम्भीर सत्य का अनुभव सम्भव होता है। मैंने पहले ही कहा है जो कर्त्तृत्वाभिमान विशिष्ट होके तदनुसार कर्म करते रहते हैं एवं उसका फलभोग करते हैं—वे भगवान् के विश्वनाट्य के अभिनेता होने के योग्य नहीं। किन्तु अब बोलता हूं पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति होने पर समझा जा सकता है कि वे भी विश्वनाट्य के बहिर्गत नहीं हैं। क्योंकि कर्म का अभिमान अर्थात् कर्त्तृत्वाभिमान रहने के लिए उन्हें विश्वनाट्य के बाहर में स्थान दिया हुआ है। किन्तु दृष्टि का गम्भीर विकास होने पर समझा जा सकता है कि वे भी विश्वनाट्य के बहिर्भूत नहीं हैं। क्योंकि यह जो व्यक्तिविशेष का कर्त्तृत्वाभिमान है, यह भी उनके ही अभिनय का अङ्ग विशेष है, क्योंकि श्रुति कही है—"यम् उन्निनीषति तं साधु कर्म कारयति यम् अधोनिनीषति तम् असाधु कर्म कारयति।" दृष्टि यहां तक विकसित होने पर समस्त विश्वलीला ही उसके नाट्यलीलारूप में बोधगम्य है। इस परिस्थिति में अज्ञान, कर्म, विचित्र प्रकार साधना अनुष्ठान एवं उसके बाद आत्मसमर्पण इत्यादि सभी श्रीभगवान् की महा इच्छा के फलस्वरूप संघटित होते हैं। क्रिया का अन्तर्भुक्त जीव जो अपने को कर्त्ता मानता है एवं जो अज्ञान के प्रभाव में इसी प्रकार सोचता है वह भी उसी महाइच्छा के बाहर नहीं है।

३०

प्रकृत समर्पण कब होता है ?

जितने दिन हृदय में भगवान् का साक्षात्कार नहीं होता उतने दिन यथार्थ समर्पण सम्भव नहीं। क्योंकि जिसके हाथ में अपने को समर्पण करना होता है, उसके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान होना प्रयोजन है। प्रत्यक्ष में ज्ञानलाभ के बाद ही अपने को उसके चरणों में समर्पण करना सम्भव है। जितने दिन पर्यन्त उदासीन भाव रहे उतने दिन समर्पण नहीं होता। साक्षात्कार के पहले उदासीन भाव रहता ही है एवं रहना उचित भी हैं। परन्तु माया के अधिष्ठाता के रूप में अन्तर में अन्तर् के अधिष्ठाता की दर्शन-प्राप्ति होना आवश्यक है। इस दर्शन से ही यह जाना जाता है कि जीवमात्र को ही सर्वत्र मायातन्तु द्वारा संचालन करने का अधिकार उन्हीं को है। कोई अपने को जितना ही कर्त्ता क्यों न माने वास्तव में वह कर्त्ता नहीं हैं। कर्तृत्वाभिमान से कर्म उत्पन्न होता है। एवं फलभोग करना होता है। किन्तु अब देखने में पाया जाता है कि परम सत्ता ही मायारज्जु द्वारा समग्र जीव को पुत्तलिका के समान संचालन करती है तभी अनुभव में आता है कि समग्र विश्व में सर्वदा वहीं कर्त्ता है। यह अनुभव होने के बाद उनकी शरणागति आवश्यक है।

कर्म करना एवं उनके द्वारा अपने को सञ्चालित होने देना यही समर्पण है। यह इच्छापूर्वक होता है। समर्पण के बिना मुक्ति नहीं होती परमात्मा तभी जीव के सब भाव ग्रहण करता है जब जीव आत्मसमर्पण करता है। तब परमात्मा ही सब दायित्व ग्रहण करता है एवं उसके स्वरूप की सब मलिनता दूर कर देता है। जो जीव को अपने को अभिमानवश मनुष्य देह में स्थित हुआ सोचते हैं, वे तब क्रीड़ा पुत्तलिका के समान पड़े होते हैं। समर्पण के अन्त में ईश्वर अपनी शक्ति द्वारा इस जीव का भाव ग्रहण करता है एवं उसका सञ्चालन करता है। उसके ज्ञान तथा क्रिया का पूर्ण दायित्व ईश्वर के ऊपर न्यस्त होता है। ब्रह्मगायत्री में इसलिए नित्योपासना में तीन स्तर उल्लिखित हैं।

(१) स्वरूपज्ञान—सविता को सविता—रूप में जानना। वह बहुत पहले ही जाना हुआ रहता है। (२) उसके बाद उनके साथ जो सम्बन्ध रहता है उसका स्मरण करना अर्थात् उनकी अनन्त शक्ति में जिस शक्ति के द्वारा हमारा कल्याण होता है, केवल मात्र उसका ही ध्यान करना होता है। अर्थात् विश्वस्रष्टा के ज्ञान के अनन्तर उनका कल्याणकारी रूप चित्त में निविष्ट करके ध्यान करना होता है। (३) इसके बाद उनके और भी निकट में आना होता है, जहां ज्ञान एवं क्रिया का व्यापार रहता है। उसके प्रभाव में ध्यानान्त में परमात्मा भक्ति के प्रभाव में

और भी निकट आ के अन्तर् में प्रकाशित होते हैं। तब वे अपनी शक्ति द्वारा भक्त के ज्ञानमार्ग एवं क्रिया मार्ग को साक्षात् संचालन करते हैं। इसके फलस्वरूप उनके ही निकट, उनके चरणों में उपासक का आत्मसमर्पण होता है। यही उपासना का तात्पर्य है।

ज्ञान और क्रिया दोनों ही व्यापक हैं। हृदयविहारी, भक्त के कल्याणकारी परमेश्वर के हाथ में रहने पर किसी विषय में चिन्ता करने का अवकाश नहीं रहता। जीव तब प्राक्तन कर्म के संस्कारवश ही कर्तृत्वाभिमान द्वारा कोई कर्म करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि, हृदयविहारी भगवान् ही सर्वत्र सञ्चालक के रूप में विराजित रहते हैं। फलस्वरूप, जीव का अभिनव कर्म उत्पन्न होना सम्भव नहीं। जीव भगवत्शक्ति के ऊपर अपने को छोड़ के निश्चिन्त होता है। यहाँ तक जीब अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय कोष में खेल करते हैं, अब वह विज्ञानमय कोष का अधिकारी होता है अब वह इस प्रकार कोई भी कर्म करता नहीं, जिसके प्रभाव में उसकी ऊर्ध्व अथवा अधोगति होती है। कर्म का मूल कर्तृत्वाभिमान है, वह विज्ञानमय कोष में लीन हो जाता है।

और एक पद अग्रसर होने के बाद आनन्दमय कोष में उपनीत हुआ मधु-धारा पान करना शुरू करता है। तब वह इस प्रकृतिराज्य के अनन्त जन्म के ऊर्ध्व में उठ जाता है एवं प्रकृतिराज्य से मुक्त हुआ दिव्य सम्पत् प्राप्त करता है।

वास्तवक्षेत्र में समर्पण होने के बाद ही जीव का यथार्थ उत्कर्ष प्राप्त होना आरम्भ होता है। इसी समय को मैं संक्षेप में अवरोह मार्ग नाम से वर्णन करता हूँ। जीव का भगवान के समीप उपनीत होना एवं उनका साक्षात्कार एवं आश्वास प्राप्त होना ही अवरोह मार्ग है। अवरोह मार्ग में जीव अपहत-पाप्मा-निर्मल शुद्ध चिद्वस्तु हो जाता है। तब जीव भगवत्तालाभ करता है। कर्म एवं संस्कार का प्रभाव नहीं रहता। जीव शिवत्व लाभ करके जगत्कल्याण कर्म में व्रती होता है। जितने दिन जीव भगवान् के हाथ में अपने को उत्सर्ग नहीं करता, उतने दिन वह शुद्ध निर्मल हुआ कर्मराज्य के बाहर उपनीत हुआ दिव्य जीवन प्राप्त नहीं कर सकता।

सृष्टि में भगवान् के लीलाचक्र में दो इच्छाएँ कार्य करती हैं—(१) जीव की इच्छा, (२) भगवद् इच्छा। समर्पण के अन्त में जीव अपनी इच्छा को छोड़ देता है, तब भगवान् की इच्छा ही जीव की इच्छा के रूप में प्रकाशित होती है। इस इच्छा के प्रभाव में जीव निष्कलङ्क शुद्ध हुआ अनादिकालीन मल से मुक्त होता है। तब जीव में भगवत्ता का संचार होता है एवं परमानन्द का नित्य उच्छ्वास चलता रहता है। जीव की इच्छा भगवद् इच्छा के विरुद्धगामी नहीं होती—यही जीव का लक्ष्य होना उचित है। भगवान् के हाथ का क्रीड़ा पुत्तलिका के समान जीव का रहना उचित है। यह समग्र एकमात्र भगवद्-इच्छा ही क्रियाशील रहती

है, जीव की इच्छा उसमें बाधा प्रदान करती नहीं। उसमें ही जीव के परम सौभाग्य का उदय होता है।

जितने दिन भगवद्दर्शन नहीं होता उतने दिन भगवदिच्छा का परिज्ञान सम्भव नहीं होता। उतने दिन पर्यन्त कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति इत्यादि के मार्ग में ही जीव का चलना उचित है। भगवद्दर्शन के अन्त में जीव अपने को उनके निकट समर्पण करता है। समर्पण के अन्त में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। भगवदिच्छा के अनुरूप जीव को चलना होता है। तब पाप-पुण्य, शुद्ध-अशुद्ध का प्रश्न उठता नहीं। मलिन शक्ति के प्रभाव से सावधान रहना उचित समझ के किसी मलिन शक्ति के अधीन होना उपयुक्त नहीं है। केवल साधन-शक्ति के प्रभाव में यह अवस्था प्राप्त करने की सम्भावना है। क्योंकि तब, प्रभु की इच्छा का अनुवर्तन ही जीव का एकमात्र कर्तव्य है। लेकिन प्रभु की इच्छा ध्यान में रख के मलिन शक्ति के प्रभाव से सावधान रहना विधेय है। केवल साधनशक्ति के प्रभाव में यह अवस्था प्राप्त करने की सम्भावना कम है।

३१

कामकला तत्त्व किसे कहते हैं? इस सम्बन्ध में हमारी कोई धारणा नहीं है—आप व्याख्या करके समझा दीजिए।

महाकाल संहिता के अन्तर्गत कामकला संहिता की आलोचना में प्रवृत्त होने पर मूल महाकाल संहिता प्राप्ति का विवरण एवं कामकला संहिता का अध्याय सबका विषय निरूपण आवश्यक है। दोनों-ही-दोनों कार्य ही यथासम्भव विस्तृत भाव में किए गए थे किन्तु जो सर्वापेक्षा अधिक आवश्यक है उसी विषय की अवतारणा अभी भी हुई नहीं। यह हुआ कामकला का स्वरूप निरूपण एवं उसका रहस्य निर्णय। शङ्कराचार्य कामकला विद्या के लिए विशेष व्याकुल हुए थे, क्योंकि वे जानते थे कि अद्वैत परम सत्य के समझने के लिए कामकला का विज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। वे "सौन्दर्यलहरी" में भी कामकला के सम्बन्ध में अनेक कुछ कहे हैं। भारतीय तान्त्रिक साहित्य की आलोचना करने पर कामकला का रहस्य कुछ-कुछ स्पष्ट प्रतिभात होता है। मेरी धारणा है कि यह कामकला विज्ञान भारत के दक्षिण भाग में भी था एवं उत्तर भाग में भी था। महाकाल संहिता की व्यापकता उत्तर भारत में अधिक थी, काश्मीर, नेपाल, तिब्बत, बिहार, बंगलादेश आदि उत्तर-प्रदेश में महाकाल संहिता का प्रचार था ऐसा प्रतीत होता है। यह ऐतिहासिक सत्य है। दक्षिण भारत में महाकाल संहिता के ग्रन्थादि

आंशिक रूप में भी उसी प्रकार पाये जाते हैं ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसीलिए ज्ञात होता है कि महाकाल संहिता में विवृत जो कामकला का रहस्य आभासरूप में देखने में पाया जाता है, वह दक्षिण भारत में प्रचलित कामकला विज्ञान से किञ्चित् भिन्न है। महाकाल संहिता में विशेषभाव से कामकला विज्ञान पाने की इच्छा थी किन्तु अब तक वह नहीं मिली। कामकला तत्त्व का जो स्वरूप लेकर तन्त्रशास्त्र प्रवर्तित हुआ है वह दक्षिण भारत में प्रचलित कामकला तत्त्व के आधार पर ही प्रवर्तित है, ऐसा प्रतीत होता है। कामकला के साथ श्रीविद्या का क्या सम्बन्ध है एवं काली अथवा महाकाली का क्या सम्बन्ध है, वह गम्भीर भाव में आलोचना का विषय है।

कामकला शब्द से क्या समझा जाता है, वही विशेष भाव से ध्यान का विषय है। कामकलातत्त्व में कामशब्द सूर्य का वाचक है। 'कामाख्या हि रविः।' इसका ही नाम बिन्दु है, जो कभी-कभी महाबिन्दु नाम से अभिहित होता है। अग्नि से संहार होता है और सोमकला से सृष्टि होती है। फलतः अग्नि और सोम यह दो बिन्दु सृष्टि और संहार के वाचक हैं एवं सूर्य अथवा रवि जो बिन्दु स्वरूप काम है उस स्थिति का वाचक है।

दोनों शक्ति परस्पर विशुद्ध भाव से क्रिया करने पर यदि दोनों शक्ति तुल्य बल वाली हों, वैसा होने पर दोनों की किसी दिशा में गति नहीं होती, स्थिति होती है। यही स्थिति ही अग्नि और सोम के साम्यावस्था के रूप में बिन्दु जाननी होगी। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार यह स्थिति-बिन्दु अथवा रवि शिवशक्ति का सामरस्य स्वरूप है। यह सामरस्य स्थितिरूप में नित्य वर्तमान रहता है। यह निष्क्रिय (static) नहीं, क्रियाशील (dynamic) नहीं, वस्तुतः निष्क्रिय (static) और क्रियाशील (dynamic) दोनों का समन्वय (Equilibrium) है। यह स्थितिबिन्दु समग्र सृष्टि के अन्तराल में नित्य सिद्धरूप में वर्तमान रहता है। शिवशक्ति वस्तुतः प्रकाश और विमर्श का नामान्तर है। प्रकाश अग्निस्वरूप है, विमर्श घृतस्वरूप है। अग्नि के सम्पर्क में घृत जिस प्रकार विगलित होने पर उसका स्राव होता है, तद्रूप प्रकाश बाह्य सम्पर्क में विमर्शरूप घृत विगलित हुआ प्रवाहित होता रहता है। जिस अवस्था में प्रकाश एवं विमर्श समरस होता है, उसका कोई परिवर्तन नहीं होता है, क्योंकि वह स्थितिरूप है। यह जो विमर्श का स्राव है यह अबाधित भाव में चलता रहता है। इसके फल में ही चित्शक्ति अथवा संवित् का उद्‌भव होता है एवं संवित् से ही विश्व के मूलीभूत ३६ तत्त्व आविर्भूत होते हैं। इन ३६ तत्त्वों में शिव और शक्ति पहले ही रहते हैं। वही शिव-शक्ति और बिन्दुरूप में अथवा सविता के स्वरूप में समरसरूप स्थितिपद में जो शिवशक्ति रहते हैं, उनमें कुछ पार्थक्य है। यह विशेष रूप से अनुधारण के योग्य है। यह जो बिन्दु और शिवशक्ति है, इसके अन्तराल में हार्दकला क्रियाशील रूप में विद्यमान रहती है।

यही देवी के योनिप्रदेश में धारारूप में निःसृत होती है। ३६ तत्त्वों का तरङ्ग इससे ही उद्‌भूत होता है।

सूक्ष्म भाव में आलोचना करने पर समझा जा सकता है कि कामकला ही शक्ति का आदि रूप है। कामकला विश्व के आविर्भाव के प्राञ्जल स्वरूप हुई आविर्भूत होती है। यह नित्यसिद्ध सामरस्य की समकालीन सत्ता है। बिन्दु के चक्र से ही सृष्टि का आविर्भाव होता है एवं यह चक्र महाबिन्दु के आश्रय करके स्थितिशील होता है। महाबिन्दु बोलने से शिवशक्ति के सामरस्य को समझा जाता है। यह सामरस्य स्थिति का स्वरूप है। इसके ही पीछे हार्दकला का स्राव होता है एवं विश्व के उत्पादक तत्त्वसमूह का आविर्भाव होता है। शिवशक्ति विश्व के मूल में भी है, विश्व के स्वरूप में भी है। जिस मातृशक्ति को समग्र विश्व को उत्पन्न करके विश्वप्रसृति नाम से परिचय प्राप्त होता है, वह विश्वसृष्टि के क्रमविकास के पथ में एक दिशा में कामकलाक्षर को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है।

विश्वसृष्टि के मूल में कामकला का कार्य रहता है, यह सब वादियों द्वारा सिद्ध है। प्राचीन भारत में तान्त्रिक साहित्य आलोचना करने पर देखा जाता है कि श्रीविद्या के रूप में अथवा महाकाली के रूप में कामकला की क्रिया ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। कामकला की क्रिया को छोड़कर विश्वसृष्टि नहीं हो सकती। हम प्राचीन तन्त्रसाहित्य की आलोचना करने पर, श्रीचक्र का आविर्भाव भी, इस कामकला के द्वारा होता है, यह देख पाते हैं। किन्तु दशमहाविद्या की काली भी कामकलाकालीरूप में कामकला के साथ जड़ित रहती है। श्रीचक्र त्रिपुरासुन्दरी के क्रमानुसार कल्पित हुआ है। ठीक उसी प्रकार कामकला काली की भी एक स्वतन्त्र धारा है, यह निश्चित है। यह धारा क्या है, वह वर्तमान महाकाल संहिता के कामकला खण्ड से जानना सम्भव नहीं हुआ। जिस प्रकार से भी हो कामकला में दिए हुए सब प्रकार के क्रमानुसार सृष्टि होती रहती है। जितनी देर महाकाल संहिता का अनुमोदित क्रम परिज्ञात नहीं होता उतनी देर प्रचलित क्रम के अनुसार ही कामकला तत्त्व समझना होता है। समग्र विश्व इस कामकला के स्वरूप की विभिन्न प्रकार की कल्पना के ऊपर कल्पित है। कामकला की आलोचना में हम प्रचलित सृष्टि के क्रम को समझने की चेष्टा करें। लेकिन ध्यान रखना होगा यह एक पक्ष की कथा मात्र है। क्योंकि विश्वसृष्टि समझो पर षोड़शी अथवा श्रीविद्या का क्रम आदि विद्या काली के क्रम से अवश्य ही भिन्न होता है। तभी दोनों ही अद्वैत दृष्टि को आधार बनाकर कल्पना की हुई है।

३२

इष्ट देवता और उसका रहस्य क्या है ? समझा दीजिए।

तुम्हें एक गुह्य विषय समझा कर कहता हूँ। समझने की चेष्टा करो। साधक जब उपासना के पूर्व उसके इष्ट देवता के निरूपण के लिए सद्‌गुरु के निकट उपस्थिति होता है तब सद्‌गुरु इस गम्भीर रहस्य के विषय में जो उपदेश देते हैं, उसका तत्त्व संक्षेप में लिखा गया।

साधक के वर्तमान समय की रुचि के अनुसार इष्ट देवता के निर्णय करने की चेष्टा वृथा है। विभिन्न उपायों से इस विषय में अग्रसर हुआ जाता है। उसके सम्बन्ध में दो एक मर्म कथा वर्णन करता हूँ। साधक का क्या इष्ट है, वह साधक नहीं जानता, क्योंकि वह अज्ञानी है। शास्त्रज्ञ पण्डितगण भी वह बोल नहीं सकते, क्योंकि वह सूक्ष्मदर्शी नहीं है। इस विषय में दो नियम दृष्टिगोचर कर लेना आवश्यक है। साधक का अपना कुलदेवता कौन है वह जानना उसके पक्ष में कठिन है। परम्परागत श्रुति सहायक करने में समर्थ हो सकती है, लेकिन वह लाभदायक नहीं।

लेकिन कुलदेवता की अपेक्षा उसके व्यक्तिगत देवता का निरूपण करना अधिकतर आवश्यक है। साधक अपने पूर्व जन्म में भिन्न-भिन्न देह में कौन देवता की उपासना किया है एवं किस मात्रा में यह उपासना सम्पन्न हुई है वैसा न जान सकने पर साधक के पक्ष में जन्मान्तर की साधना के साथ वर्तमान साधना का सामञ्जस्य रखना कठिन है। इसलिए सद्‌गुरु शक्तिशाली होने पर अपनी चेष्टा करके पूर्व जन्म की उपासना के संस्कार जानने में समर्थ होते हैं एवं इस उपासना की धारा को अवलम्बन करके वर्तमान जीवन में अग्रसर हो सकते हैं। लौकिक संस्कार इस मार्ग में लाभप्रद उत्पन्न नहीं होते। उसी लिए अन्तर्दृष्टि द्वारा पूर्व-जन्म के संस्कार देख लेने होते हैं। भिन्न-भिन्न सिद्धमण्डली में इसकी भिन्न-भिन्न प्रणाली है। मैं एक साधारण क्रम इस स्थल पर उल्लेख करता हूँ। साधक योग मार्ग में निष्णात होने पर पूर्व जन्म के साधना के संस्कार स्वयं ही देख पाते हैं।

सद्‌गुरु भी इसी लिए योग मार्ग अवलम्बन करने पर पूर्वजन्म का संस्कार समझने की चेष्टा करते हैं। योगी साधक योग में आरूढ़ हुए भावी शिष्य की सत्ता में अभिनिविष्ट होते हैं। इसके फलस्वरूप परिपक्व समाधि की अवस्था के प्रभाव में पूर्वजन्म के धारा प्रत्यक्षगोचर होके रहती है। संस्कार के साक्षात्कार से यह सम्भव होता है एवं जो यह कर नहीं सकते, उनके पक्ष में निश्चय रूप से जानना भी सम्भव नहीं है कि साधक के पूर्वजन्म में किस प्रकार की साधना थी। इस अवस्था में जो पारङ्गत है वे प्राचीनकाल में ऋषिपदवाच्य हुए हैं अर्थात् ऋषि

भाव प्राप्त होने से साक्षात्‌भाव में स्वभाव जानने में समर्थ हो जाता है अर्थात् प्रत्यक्ष किया जाता है। उसी लिए ऋषि शब्द का अर्थ द्रष्टा है। सद्‌गुरु इस प्रकार पूर्वजन्म के साक्षात्कार के द्वारा इस समय के संस्कार एवं उपासना इत्यादि विस्तृत विवरण जानने में समर्थ है। भावी शिष्य उसका पूर्वजन्म का इतिहास नहीं जानता किन्तु गुरु समाधि प्रज्ञा के द्वारा उसका प्रत्यक्ष कर सकता है। तब वही पूर्वावस्था चित्त में अपरोक्ष भाव में उदित होती है। देवता, मन्त्र, बीज— सभी इस प्रकार जाने जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान लाभ होने से साधक की साधन-धारा के सम्बन्ध में गुरु का कोई सन्देह नहीं रहता।

किन्तु यह साधन धारा अवगत होने से भी शिष्य को यह अर्पण करना एवं इस पथ में चलना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस विषय में दो मार्ग प्रचलित हैं। एक योगसिद्ध ज्ञानी महापुरुष के सम्बन्ध में और दूसरा जागतिक गुरुजन के सम्बन्ध में।

योगी सद्‌गुरु समाधि आलम्बन करके साधक की सत्ता के अवलम्बन के फलस्वरूप साधक के इष्ट देवता के स्वरूप को जान सकते हैं एवं उसको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। समाधि में प्रविष्ट होने के फलस्वरूप यह घटित होता है। समाधि तोड़ने के फलस्वरूप गुरु पूर्वजन्म के संस्कारादि साक्षात्कार कर सकता है एवं समाधि से उन्नति करके वह उसके ज्ञानगोचर होता है, यह भी सत्य है। किन्तु समाधि की समाप्ति पर वह किस प्रकार साधक को अर्पण करता हो अर्थात् ज्ञात कराता हो, वह एक समस्या है। क्योंकि गुरु जो प्रत्यक्ष देख पाते हैं, वह समाधि की समकालीन अवस्था है। व्युत्थान अवस्था में वह स्वतः जानने पर भी साधक को साक्षात् भाव में सहज बोल नहीं सकता। गुरु भावी शिष्य को अथवा साधक को पूर्वजन्म का संस्कार प्रत्यक्ष जान सकने पर भी साधक को जना देना एक कठिन विषय है। क्योंकि गुरु जो प्रत्यक्ष देखे हैं वह गुरु के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर भी, शिष्य अथवा साधक कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते कि किस प्रकार वह अभ्यास करे? इसलिए कोई सिद्ध आसन इत्यादि यदि गुरु ग्रहण कर सके तब उसको अवलम्बन करके भावी शिष्य सब रहस्य प्रत्यक्ष देख पाते हैं! तब उसको अवलम्बन करके शिष्य अपने साधना से पथ में अग्रसर हो सकते हैं।

सिद्ध सम्पत कुछ न रहने पर गुरु के लिए साक्षात् भाव से अर्पण करने का भार ग्रहण करना सम्भव नहीं है। उसी अवस्था में पश्यन्ती भूमि में जो कुछ प्रत्यक्ष करना हुआ है, (नाम, मन्त्रादि) वह शिष्य की वैखरी अवस्था में गुरुदत्त साधना के उपाय के द्वारा लौकिक अथवा वैखरी अवस्था में क्रिया करते-करते अनाहत ध्वनि के उदय के साथ-साथ अपने आप (automatically) मध्यमा अवस्था का उदय होता है। मध्यमा अवस्था में पश्यन्ती अवस्था का अभ्यास नाद को आश्रय करके फूट उठता है। तब और मध्यमा भूमि में स्थिति रहती

नहीं। वैखरी अवस्था में भी शिष्य अभ्यास का कार्य करता रहता है। इस प्रकार न कर सकने पर पश्यन्ती अवस्था से वैखरी भूमि में ज्ञान को उतार लाना कठिन है। एक बार वैखरी में उतर जाने पर उसके बाद शिष्य के लिए अभ्यास करना सहज होता है।

३३

साधन पथ में अग्रसर होने का क्या प्रयोजन है ?

साधन पथ में गुरु के आदेश अनुसार चलना होता है। उससे कुण्डलिनी का जागरण होता है। शक्ति का जागरण करने से शक्ति ही साधक को चलाती हैं। तब क्या करना होता है वह मनुष्य को जानने की आवश्यकता नहीं है। शक्ति ही निर्देश करती है। जिस प्रकार गोमुखी में गंगा बर्फ हुई होती है, वही बर्फ पिघलने पर जल हो के अपना रास्ता बनाकर समुद्र में पहुँचती ही है। पहला कर्म वर्फ तोड़ना है। समुद्र में पहुँचने का अर्थ शक्ति साधक को शिव के निकट पहुँचा दी। शिवत्व प्राप्त होने पर पुनः साधक को बोध नहीं रहता कि वे ही शिव हैं। अवश्य उत्तम आधार की कथा भिन्न है। इस प्रकार अनेक महापुरुष देखे जाते हैं जो शिवत्व लाभ किए हैं, फिर भी स्वयं वे इस बोध से शून्य हैं कि वे शिव हैं। अवश्य शक्ति ही इस स्थल पर सहायता करती है।

यह सब बात शक्ति उपाय की दृष्टि से सोचनी होगी। इस प्रकार अन्य उपाय भी हैं निरुपाय भी हैं। जब शक्ति का जागरण होता है तब वह सहस्रार में जा के शिव साथ मिलती है। शिव के साथ आलिङ्गित होने के लिए शक्ति का जन्म होता है। साधारण जीव सम्पूर्ण प्रकार से मिलने का स्वाद नहीं पाता। उसके लिए चिदाकाश के आवरण का उन्मोचन प्रयोजन है। उसके निमित्त नाभि क्रिया के उन्मोचन के फलस्वरूप ऊर्ध्वगति होती है। शास्त्र में है, ब्रह्मा, विष्णु के नाभिकमल में अधिष्ठान करता है। वह ठीक है। इस प्रकार नाभि क्रिया के फल-स्वरूप चिदाकाश का आवरण उन्मोचित होने में शिवशक्ति के आलिङ्गन का वास्तविक आनन्द आस्वादित होता है। यह न होने से शिवशक्ति के आलिङ्गन करने पर साधक के अभिभूत हो पड़ने की आशङ्का होती है।

जो भी हो, शक्ति का जागरण न होने पर शिव के साथ मिलने का आनन्द प्राप्त नहीं होता।

३४

बीज बोलने से क्या समझते हो ?

साधारण अर्थ में, जिससे वृक्ष उत्पन्न होता है। इस बीज से ही सकल सृष्टि होती है। बीज से वृक्ष, पुनः बीज, इस प्रकार अनन्त धारा चलती है। बीज ही अपना स्वरूप है वह मातृका से भिन्न नहीं पाया जाता। 'अ' से 'ह' यह '५०' वर्णमाला ही मातृका है। इस 'अ' से 'ह' लेकर ही 'अहं' है। पुस्तकालय में कितनी पुस्तकें हैं। उनके मूल में किन्तु '२६' अक्षर अथवा वर्ण छोड़कर और कुछ भी नहीं है। एक शब्द के साथ अन्य शब्दों के वियोगीकरण (permatation) और संयोगीकरण (combination) के द्वारा यह असंख्य पुस्तकें सम्भव हुई हैं। यह बीज ही प्रणव है, एकत्र करने से ऊँकार होता है। शिशु का बीज नहीं है, क्योंकि वीर्य नहीं है। यौवन आने पर वीर्य होता है एवं बीज भी उत्पन्न होता है। उसी प्रकार अध्यात्म जगत् में भी यौवन नाम की एक अवस्था है। प्रत्येक का पृथक्-पृथक् है किन्तु एक ही बीज है। प्रत्येक बीज से यथार्थ बाहिर करने से स्वरूप समझा जाता है। चित्शक्ति का विकास होता है। नाभिचक्र खुल जाता है एवं "सब ही सब" यह तत्त्व-ज्ञान होता है। अतएव एक ही अहं अनन्त है।

गुरु शिष्य को कब बीज दान करता है ?

दीक्षा के समय। शिष्य को बीज देते हुए गुरु को मूल में जाना होता है। पश्यन्ती वाक्भूमि में उसके साथ एक हो जाता है। उसके बाद मध्यमा में उतरना पड़ता है उसके बाद वैखरी में एवं तब वह बोल देते हैं—वही तुम्हारा है। शिष्य तब वह जप करता है। जप के फलस्वरूप बीज का आवरण मुक्त होता है,—नाद उठता है। अन्त में ज्योति फूट उठती है। यही बीज ही भौतिक आकाश से चिदाकाश में ले जाता है। साधारण लोक बीज की धारण कर नहीं सकते। सद्गुरु समर्थ है। एक गुलाब में इस विश्व का सब कुछ उपादान है, साधारणतः क्या समझा जाता है? बीजप्राप्त करने से मन का राज्य प्राप्त हो गया। शब्द नष्ट होने से ही नाद की उत्पत्ति होती है। नौका को मांझी क्या करता है? वह नौका को किसी प्रकार अनुकूल स्रोत में ले जाने की चेष्टा करता है, क्योंकि जानता है कि एक बार अनुकूल स्रोत में पहुँचने पर नौका स्वयं ही चलती है।

निर्बीज अवस्था होती है क्या ?

निश्चय ही। बीज रहते हुए निर्बीज अवस्था भी है। निर्बीज अपने से ही ज्ञान पाता है—उसकी अपने से ही सिद्ध होती है किन्तु वह दूसरे को दे नहीं सकता। वह सृष्टि में गण्य नहीं है।

नाम में और बीज में अन्तर क्या है ?

नाम जप के फलस्वरूप काल का अर्थात् जरा और मृत्यु का आवरण कट जाता है। आनन्द प्राप्त होता है, चिदानन्द भी रहता है किन्तु दूसरे को दिया नहीं जाता। नाम में दिया स्वरूप प्रकाश नहीं पाता। बीज में स्वातन्त्र्य शक्ति भी निहित रहती है अर्थात् बीज जप के फलस्वरूप स्वातन्त्र्य शक्ति पर्यन्त विकसित है, नाम में वैसा होता नहीं।

साधारण योगी बीज धारण ही नहीं कर सकता। सद्गुरु समर्थ है। बीज पा जाने पर मन का राज्य पाया गया। शब्द विगलित होने से ही नाद आ गया। नौका का मांझी ठीक बहाव (current) से नौका ले जाने में समर्थ होने से नौका अपने आप ही चलती है।

गुरु किसी को नाम, किसी को बीज देते हैं— इसमें अन्तर क्या है?

पहले ही कहा है, बीज से स्वातन्त्र्य शक्ति पर्यन्त विकास होता है। नाम से काल का अर्थात् जरा—मृत्यु का आवरण कट जाता है, आनन्द और चिदानन्द भी रहता है किन्तु दूसरे को दिया नहीं जाता। नाम में दिया स्वरूप प्रकाशित नहीं होता।

३५

सूर्य विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ जिज्ञासा है। स्थूल रूप से सूर्य विज्ञान तत्त्व क्या है?

सूर्य विज्ञान अति प्राचीन भारतीय विज्ञान है। किन्तु साधारण जगत् में हमारे गुरुदेव के आविर्भाव के पहले इसका रहस्य कोई विशेष प्रकार से नहीं जानता था अथवा जानने पर भी उसका प्रकाश नहीं करते थे। इसलिए उस सम्बन्ध में कुछ बोलने के लिए नहीं है। मैंने जब पहली बार श्रीगुरुदेव के चरणों का दर्शन किया था, तभी इसका परिचय प्राप्त हुआ था एवं क्रमशः इसका विस्तारित रहस्य भी समझ में आया। बाद में श्रीगुरु देव को कहते सुना था कि उन्होंने यह विज्ञान एवं इसके साथ अन्यान्य विज्ञान जैसे चन्द्र-विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान, वायु-विज्ञान, क्षण-विज्ञान, यह सब ज्ञानपुञ्ज से ब्रह्मचर्य अवस्था में अवस्थान काल में सीख लिए थे। बाद में क्रमशः उन्होंने स्वयं इसका विकास भी किया था।

साधारणतः सूर्य विज्ञान का रहस्य ही सब प्रकार के लौकिक विज्ञान का मूल रहस्य है। मोटे तौर पर सूर्य से जगत् के जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं एवं यह विज्ञान जान लेने से सब पदार्थ ही इच्छानुरूप निर्माण किए जाते हैं। उन्होंने

कहा था सूर्य का नाम सविता है क्योंकि यही विश्व के प्रसव का मूल है। सूर्य विज्ञान सीखने से सूर्य की रश्मि के सम्वन्ध में परिज्ञान रहना आवश्यक है। सूर्य विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार जगत् के सभी पदार्थ सूर्य से उद्भूत हैं। सूर्य की रश्मि सात प्रकार की है। इन सात प्रकार की रश्मियों के मिश्रण से अनन्त प्रकार की रश्मियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। किन्तु सकल रश्मियों के मूल में शुभ्र अथवा श्वेत वर्ण का प्रकाश विद्यमान रहता है। यह विशुद्ध सत्त्व का प्रकाश है। अन्यान्य रश्मि से तीन गुणों का प्रकाश होता है। विज्ञान का सिद्धान्त यही है कि जगत् के प्रति वस्तु का एक फार्मूला है। उसके अनुसार रश्मि का परस्पर मिश्रण प्रत्येक वस्तु में है। किन्तु निर्माण काल में प्रत्येक वस्तु के निर्दिष्ट फार्मूला के अनुसार उस दिशा में आकर्षण करने का प्रबन्ध करना होता है। प्रथम अवस्था में एक लेन्स के द्वारा आकर्षण करना होता है। साधारण लेन्स से भी होता है लेकिन ज्ञानपुञ्ज से प्राप्त विशिष्ट लेन्स से अच्छा होता है। जब रश्मि का आकर्षण प्रक्रिया पर अधिकार उत्पन्न होता है तब यह सब रश्मि की आकर्षण क्रिया शुद्ध हाथ से ही की जाती है, अवश्य ज्ञान की पूर्णता प्राप्ति होने पर। किन्तु पहले ही कहा है कि इस सकल रश्मि अथवा वर्णमाला के मूल में है विशुद्ध सत्त्व अथवा शुभ्र श्वेतवर्ण। यह पृथक् प्रकार से देखने में पाया नहीं जाता क्योंकि जागतिक वस्तु के विभिन्न रङ्ग के द्वारा यह आच्छादित है। इस श्वेत वर्ण के ऊपर जिस वस्तु का निर्माण करना हो उसके फार्मूला के अनुसार आकर्षण द्वारा वर्ण विन्यास करना होता है। हम कोई शब्द लिखने के लिए उसके वर्ण विन्यास के अनुसार वर्णसमूह को एक-दूसरे के बाद सजा के रखते हैं। जिस प्रकार 'Camphor' यह शब्द लिखने के लिए पहले पहले लिखना है 'c' उसके बाद 'a' उचके बाद 'm' इत्यादि क्रम से 'r' पर्यन्त। किन्तु सर्वप्रथम वर्ण 'c' सूर्य से आकर्षण के पूर्व सफेद वा श्वेतवर्ण प्रकाश कर लेना आवश्यक है। क्योंकि वैसा न कर लेने पर चाहे जिस किसी वर्ण का आविर्भाव हो वह स्थायी नहीं होता। एक वर्ण के आविर्भाव के बाद अन्य वर्ण के साथ संयोग के लिए उस वर्ण को आविर्भूत करने के समय पूर्ण क्षणविध्वंसी बोला जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र है। दो वर्णों का परस्पर संयोग सम्भव नहीं होता, क्योंकि एक वर्ण को प्रकाशित करके अन्य वर्ण को प्रकाश की चेष्टा करने के साथ-साथ प्रथम वर्ण लुप्त हो जाता है। क्योंकि वर्णमाला का संयोग किस के साथ किस का होवे? क्योंकि जब पूर्व वर्ण है तब परवर्ण नहीं, क्षणिक होने से, इसलिए परस्पर योग सम्भव होता नहीं। इस के लिए विशुद्ध सत्त्व का जो श्वेत वर्ण है, उसकी भूमि में विस्तार करके रखना होता है। उसके बाद द्वितीय वर्ण के आविर्भूत होने के समय वह विद्यमान रहता है। इस प्रकार एक-दूसरे के बाद सब वर्णों का संयोग होता है। वस्तु के उपादान में जो सब वर्ण रहते हैं उनका क्रमिक आविर्भाव आवश्यक है। किन्तु वैसा होने पर भी वस्तु का प्रकाश नहीं होता जब

तक सम्पूर्ण वर्ण उदय नहीं होता, तब तक वस्तु का परिचय नहीं होता एवं हो नहीं सकता। जब सम्पूर्ण वर्णों का आविर्भाव होता है तब रश्मि-निर्मित वस्तु स्फुरित हो उठती है एवं जो स्फुरण होता है वह वस्तु का स्फुरण है। जितनी देर पूर्वोक्त संयोग अक्षुण्ण रहता है, उतनी देर तक इस स्फुरण का व्यापार भी अक्षुण्ण रहता है—जिस प्रकार कर्पूर रचने की बात बोली गई है। दृष्टान्त स्वरूप इसका उपादान अंग्रेज़ी वर्णमाला में 'Camphor' द्वारा निर्दिष्ट हुआ। जब 'c' आविर्भूत होता है अवश्य शुद्ध सत्त्व के सन्निकर्ष में, तब कर्पूर का आभास पाया नहीं जाता। एक-दूसरे के बाद वर्णों के आविर्भाव में भी पाया जाता नहीं किन्तु एक-दूसरे के बाद आविर्भूत हुआ जब 'r' इसमें उपनीत होता है, तब कर्पूर का गन्ध पाया जाता है एवं इस समय यदि चाञ्चल्य न हो, वैसा होने पर कर्पूर शुद्ध गन्धरूप में नहीं, स्थूल रूप में आविर्भूत होता है एवं इस अवस्था का परिवर्तन न होने पर यथेष्ट परिमाण में वह आविर्भूत हो सकता है।

●●●

www.archiesonline.com

PAPER ROSE

© AGC Inc.

Produced By ARCHIES LTD.

5000 BVG 06008 PREN